## :त्वप्रदीप

म्मत समस्त सिद्धान्तों का अन्य भारतीय परिप्रेक्ष्य में समीक्षात्मक एवं अत्यन्त वेचन इसमें प्रस्तुत किया गया है। विषय के ण के लिए विविध विद्वानों के विचारों की ा, प्राचीन-अर्वाचीन मतों की समीक्षा, धरणों का सन्दर्भ इत्यादि इसकी प्रमुख हैं। आकार में लघु होने पर भी संदर्भ ने के कारण यह कृति विद्यार्थियों तथा ां के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

मूल्य ५·००

# सांख्यतत्त्वप्रदीप

डॉ० अमल धारी सिंह
एम० ए, पी-एच० डी०
वेदाचार्य, साहित्यरत्न
प्राध्यापक संस्कृत विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय जोधपुर

भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बा० १०८, कचौड़ीगली
वाराणसी

प्रकाशक
श्री किशोर चन्द्र जैन
भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बा० १०८, कचौड़ीगली
वाराणसी

प्रथम संस्करण
जुलाई १९७०
मूल्य ५.००

मुद्रक
शरद कुमार 'साधक'
मानव मन्दिर मुद्रणालय
नरहरपुरा
वाराणसी

# भारतीयदर्शन

## दर्शन शब्द का अर्थ

❀

'दृश्यते प्रेक्ष्यते ज्ञायते अनेन इति दर्शनम्' √दृश् = देखना साक्षात्कार करना, करणे अथवा भावे ल्युट्। जिस साधन, माध्यम से देखा जाय, उसे 'दर्शन' कहते हैं। इस प्रकार 'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जिसकी सहायता से पदार्थ का साक्षात्कार हो। वस्तु साक्षात्कार के प्रधान साधन चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ ही हैं। अतः इनको ही 'दर्शन' की संज्ञा से संबोधित करना चाहिये। किंतु मानवों की इन्द्रियाँ सर्वथा निर्दोष नहीं होतीं। इसलिये पदार्थों के तत्त्वतः साक्षात्कार में इन्द्रियाँ पूर्णतया समर्थ नहीं हैं। अतः वस्तु-साक्षात्कार में यथार्थ साधन न होने के कारण इन्द्रियाँ 'दर्शन' नहीं हैं। तपःपूत सत्यधर्मा मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की सतत साधना एवं अनवरत अध्यवसाय द्वारा प्रत्यक्षीकृत ज्ञान की विमल राशि ही वेद हैं, जो सर्वथा अनवद्य, समस्तदोषविवर्जित, नित्य, शाश्वत तथा देशानवच्छिन्न एवं कालानवच्छिन्न हैं। इसी कारण तत्त्वों के सम्यक् साक्षात्कार में वेदों को सनातन, निर्बाध, अप्रतिहत चक्षु कहा गया है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥ मनु १२।९४

साथ ही मानव इन्द्रियाँ केवल प्रत्यक्ष—वर्तमानकालीन विषयों का ही साक्षात्कार करती हैं। पर वेद अतीत-वर्तमान-अनागत त्रैकालिक विषयों को ग्रहण करने वाले हैं। जिस पदार्थ का ज्ञान किसी भी साधन, प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान आदि प्रमाणों से नहीं होता, उसका भी सम्यक् अवबोध वेद द्वारा होता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

इस प्रकार समस्त विषयों के यथार्थ ज्ञान में वेद ही अनुपम, अन्यतम साधन हैं और ये वेद त्रैकालिक सत्य हैं और इसी कारण इनका ज्ञान कभी भी किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होता। ये वेद स्वतः प्रामाण्य हैं। अपने ज्ञान की प्रामाणिकता के लिये ये किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, क्योंकि ये वेद स्वयं साक्षात्कृत ज्ञान हैं, मिथ्यात्व की किंचिन्मात्र भी संभावना इनमें नहीं है—

(वेदास्तु) निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्।

—सांख्यसूत्र ५।५१

अतः पदार्थों के यथार्थ स्वरूप ज्ञान में सर्वथा समस्त दोष-रहित सर्वोत्कृष्ट साधन होने के कारण वेदों को ही 'दर्शन' शब्द से अभिहित करना समीचीन है तथा वेद शब्द का अर्थ ही है—

'विदन्त्येभिर्धर्मब्रह्मणी क्रियाज्ञानमयं ब्रह्म वेति वेदः'

'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वैभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदाः'

और सकल ज्ञान-विज्ञान-दर्शन के मूल यही आर्षज्ञान वेद हैं। ऐसा होने पर भी वेदों के लिये इस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता, अपितु एक साहित्यविशेष के लिये यह शब्द व्यवहृत होता है।

अतः एक विशिष्ट प्रकार का साहित्य ही 'दर्शन' है, जिसके माध्यम से, अनुशीलन से विशिष्ट तत्त्वों का साक्षात्कार, सम्यक् ज्ञान, यथार्थ रूप से स्वरूप-दर्शन होता है। ईश्वर-जीव जगत् रूप से प्रायः तीन ही तत्त्व हैं जो अतीव दुर्बोध, रहस्यमय एवं विलक्षण हैं। अतः इन्हीं त्रिविध तत्त्वों के स्वरूप साक्षात्कार के अन्यतम साधन को 'दर्शन' कहते हैं। इस प्रकार साहित्य की एक विशेष शाखा ही 'दर्शन' है, जिसकी सहायता से तत्त्वज्ञान की सत्य रूप में उपलब्धि होती है। जीव का अपना ही यथार्थ स्वरूप, आत्मा ही परमतत्त्व है और आत्म-स्वरूप साक्षात्कार ही पुरुष का परम पुरुषार्थ है। अतः **'दृश्यते साक्षात्क्रियते आत्मा अनेन इति दर्शनम्'** आत्मा के सत्य स्वरूप के साक्षात्कार का साधन ही 'दर्शन' है। स्वरूप दर्शन ही मानव-जीवन का चरम पुरुषार्थ है। इसकी सिद्धि के लिये ही ऋषियों द्वारा किये गये प्रयास ही 'जैनन्यायवैशेपिक-सांख्ययोग-मीमांसावेदान्त' इत्यादि दर्शन हैं। न्यायदर्शन में प्रमाणप्रमेय इत्यादि षोडश पदार्थों, वैशेषिक में द्रव्यगुणकर्मादि सप्त पदार्थों के तत्त्वज्ञान से, सांख्यसिद्धान्त में सत्त्वपुरुषान्यताख्याति अथवा व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ के विवेक ज्ञान से, योग में यमनियमासनादि अष्टाङ्गमार्ग द्वारा स्वरूप प्रतिष्ठा, समाधि में स्वरूप दर्शन से, मीमांसा में कर्मानुष्ठान द्वारा तथा अद्वैत वेदान्त में आत्मा ब्रह्म में अभेदस्थिति से ही मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई है। इसलिये मुख्य रूप से मोक्षसिद्धि के साधन का निरूपण करने वाला शास्त्र ही 'दर्शन' है।

तत्त्व के यथार्थ दर्शन, साक्षात्कार का अभिप्राय है कि अतत्त्व के स्वरूप का भी सम्यक् ज्ञान हो। तत्त्व एवं अतत्त्व में विवेक बुद्धि हो, दोनों का ही पृथक् पृथक् दर्शन हो। आत्मा ही परम तत्त्व है, जो वेदान्त मत में ब्रह्म से अभिन्न तथा सांख्ययोग सिद्धान्त में स्वतन्त्र तत्त्व है। इससे इतर पदार्थ अतत्त्व हैं। अतः इनके यथार्थ स्वरूप

को प्रस्तुत करने वाला शास्त्र ही 'दर्शन' है—**'दृश्येते साक्षात्क्रियेते तत्त्वातत्त्वे अनेन इति तत्त्वातत्त्वविवेचनंशास्त्रविशेषं दर्शनम्'।** सामान्य रूप से चेतन एवं अचेतन पदार्थों में भेद रूप से तत्त्वानु-संधान, प्रतीति कराने वाला साधन ही 'दर्शन' है–**'दृश्यते उपलभ्यते चेतनाचेतनभेदः अनेन इति दर्शनम्'।** प्रमुख रूप से अध्यात्मज्ञान पूर्वक परम पुरुषार्थ रूप अपवर्ग को प्रदान करने वाला शास्त्र, साधन ही 'दर्शन' है—**'दृश्यते साक्षात्क्रियते अध्यात्मज्ञानपुरस्सरं परमपुरुषार्थोऽपवर्गः अनेन इति दर्शनम्'।** इस प्रकार काव्य-नाटकपुराणेतिहाससाहित्यशास्त्र इत्यादि ग्रन्थों में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। समस्त भारतीय दर्शनों का परम प्रयोजन मोक्षपथ को प्रशस्त करना है। यद्यपि उनके प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप में मतभेद है और समान लक्ष्य की सिद्धि के लिये वे भिन्न-भिन्न पथ का अनुसरण करते हैं, प्राप्तव्य की प्राप्ति के लिये उनकी पद्धति, प्रवृत्ति पृथक् पृथक् अवश्य है, पर सभी का अपवर्ग रूप प्रयोजन समान है। इसलिये अपवर्ग प्राप्ति के साधन को ही 'दर्शन' कहना अधिक समीचीन है।

**'दृष्टिर्दर्शनेऽक्षिणदर्शने'** इस रूप से 'दर्शन' शब्द का अर्थ ज्ञान एवं प्रेक्षण है। अतः लौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस का ज्ञान कराने वाले, उनकी प्राप्ति के पथ को प्रशस्त करने वाले, दिखलाने वाले साधन को 'दर्शन' कहना उपयुक्त ही है—

यदाभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च।
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत्तद्धि दर्शनम्॥

ज्ञान के चूडान्त स्वरूप की उपलब्धि 'दर्शन' में होती है। भारतीय प्रज्ञा के परम प्रकर्ष स्वरूप की अभिव्यक्ति ही 'दर्शन' है। समस्त मानवीय ज्ञान-विज्ञान की चरम परिणति, विद्यास्थान की

इतिश्री 'दर्शन' में ही हुई है। यही अध्यात्मविद्या है और इसी की संज्ञा 'पराविद्या' है। अक्षर ब्रह्म, आत्मस्वरूप, जगत् का तत्त्वतः ज्ञान, सम्यक् साक्षात्कार संपन्न करने वाली यही विद्या है—

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

—मुण्डक० १।१।५

इन्हीं तत्त्वों के अधिगमन हेतु ही इस 'पराविद्या' का प्रवर्तन हुआ है। यही विद्या मोक्ष की संपादिका है और इसी की 'ब्रह्मविद्या' रूप से प्रसिद्धि है। समस्त विद्याओं की प्रतिष्ठा के रूप में इसी का स्मरण किया जाता है—

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।

—१।१।१ मुण्डक०

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

—मुण्डक० ३।२।६

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।

एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥

—मुण्डक० २।१।१०

ब्रह्मविदाप्नोति परम्—तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः—ईश० ७

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति —कैवल्य० ६

अध्यात्मविद्या विद्यानाम्—गीता १०।३२ स

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते —गीता ७।२

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

—अर्थशास्त्र १।२

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।

मनु० १२।८५

ज्ञानस्य ह्येषा पराकाष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम् ।

—आचार्य शंकर

अतः इस सम्यक् दर्शन से सपन्न पुरुष शीघ्र ही सभी प्रकार के कर्मबन्धनों से विनिर्मुक्त होकर मानव जीवन के परम प्रयोजन अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है और इस ज्ञान से विरहित पुरुष इस संसार में संसरण करता रहता है—

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥

—मनु० ६।७४

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—मुण्डक० २।२।८

इस रूप से दर्शनशास्त्र मानव जीवन के गन्तव्य चरम उद्देश्य को बतलाता है । लौकिक अभ्युदय एवं अनन्तर परमानन्द अथवा मोक्ष प्राप्ति ही पुरुष का लक्ष्य, प्राप्तव्य है । इसी गन्तव्य के अधिगमन के लिए अनेक प्रकार के मार्गों का वर्णन अपने-अपने दृष्टिकोण से भिन्न भिन्न दर्शन करते हैं । इसलिए समान प्रयोजन होने पर भी इनमें प्रवृत्ति भेद पाया जाता है । साथ ही 'दर्शन दृष्टि भी प्रदान करता है

जिसके आलोक में उसके द्वारा निरूपित पथ पर अग्रसर होता हुआ मानव अपने गन्तव्य तक पहुँच सके। इस प्रकार दर्शनशास्त्र प्राप्तव्य, प्राप्ति के साधन तथा प्राप्तव्य को प्राप्त करने की दृष्टि अथवा योग्यता प्रदान करता है। इसीलिए 'दर्शन' में कर्मसिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है और कर्म की महत्ता का प्रतिपादन करके सदैव सत्पथ में प्रवृत्त होने की सुन्दर प्रेरणा प्रदान की गई है।

'दर्शन' के अर्थ की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के लिये द्रष्टा-दर्शन-दृश्य पर विचार करना अधिक समीचीन है। स्वयं पुरुष अथवा आत्मा ही द्रष्टा है। दर्शन तो साक्षात्कार के साधन हैं तथा दृश्य मुख्य रूप से पुरुष का अपना ही यथार्थ स्वरूप है। द्रष्टा आत्मा दर्शन द्वारा प्रतिपादित उपायों के माध्यम से स्वकीय स्वरूप का ही सम्यक् साक्षात्कार करता है। इसलिये दर्शनशास्त्रों में आत्मा के स्वरूप तथा उसके प्रत्यक्षीकरण के साधनों का अति उदात्त एवं विशद रूप में निरूपण किया गया है। किंतु आत्मस्वरूप के सम्यक् साक्षात्कार का अभिप्राय है, आत्मेतर पदार्थों के भी स्वरूप का सम्यक् साक्षात्कार। दोनों में विवेकख्याति, भेद प्रतीति होना ही तत्त्वतः दर्शन है। स्थूल एवं सूक्ष्म भेद से पदार्थ द्विविध हैं और इन्हीं पदार्थों के स्वरूप तथा उनके साक्षात्कार का उपाय दर्शनशास्त्रों में बतलाया गया है। इसीलिये चार्वाक-बौद्ध-जैन-न्यायवैशेषिक सिद्धान्त प्रधानतया पदार्थों के स्थूल स्वरूप का विवेचन करते हैं तथा सांख्यायोग-वेदान्त मत सूक्ष्म तत्त्वों का। मीमांसादर्शन कर्मों के अनुष्ठान के लिए प्रेरित करता है और योगसिद्धांत यमनियमासनादि अष्टाङ्गमार्ग, आचारमीमांसा का निरूपण करता है, जिस मार्ग का अनुसरण करता हुआ, जिसकी सतत साधना से पुरुष तत्त्वातत्त्व का सम्यक् दर्शन करता हुआ स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और यही अपवर्ग अवाप्ति है तथा मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है।

सामान्य रूप से मानव जीवन के ऊपर युक्तिपूर्वक सुव्यवस्थित परम्परानुसार विशेष पद्धति के माध्यम से चिन्तन-विचार करने का प्रयास ही 'दर्शन' है। जीवन-मृत्यु का रहस्य क्या है? शुभकर्मों का क्या स्थान है? इत्यादि समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन, इन रहस्यों की तत्त्वपूर्ण मीमांसा ही दर्शन है। विभिन्न विज्ञान तथा शास्त्र इस जगत् का अध्ययन अपने-अपने दृष्टिकोण से करते हैं तथा सभी का अध्ययन आंशिक, एकाङ्गी ही होता है। पर दर्शनशास्त्र का अध्ययन एकाङ्गी नहीं, सर्वाङ्गीण होता है। समस्त संसार पर वह एक साथ विचार करता है। अखिल विश्व का विश्लेषणात्मक नहीं, संश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है और इस प्रकार इस जगत् के तत्त्वान्वेषण, स्वरूपदर्शन का प्रयास करता है। समग्र ब्रह्माण्ड का यही एक साथ देखना ही दर्शन है। अतः दृश्यमान् एवं अदृश्यमान्, स्थूल एवं सूक्ष्म रूप जगत् के अन्तः में स्थिर, सत्य सारभूत तत्त्व का ही अन्वेषण दर्शन करता है। ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, आत्मा उससे भिन्न नहीं तथा जगत् भी उसी का रूप है—इन्हीं त्रिविध तत्त्वों के एकत्व दर्शन का ही अद्वितीय, सर्वोत्तम साधन 'दर्शन' है जो स्वरूप का सम्यक् साक्षात्कार संपन्न करके अपवर्ग प्रदान करता है। साथ ही विभिन्न शास्त्रों में प्रतीयमान विरोधों का परिहार एवं उनमें सामञ्जस्य की स्थापना भी 'दर्शन' का दर्शनत्व है। इस प्रकार 'दर्शन' शब्द के अनेक अर्थ हैं।

## भारतीयदर्शन का प्रतिपाद्य विषय

❀

मनुष्य स्वभावतः एक मननशील एवं विवेक प्रधान प्राणी है। प्रत्येक अनुष्ठान के अवसर पर वह अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करता है। तर्क वितर्क, विचार विमर्श के विना वह किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इस प्रकार समस्त मानवीय क्रियाकलापों के आधार

विचार ही हैं। भारतभूमि सदा ही तपस्या का क्षेत्र, आध्यात्मिक चिन्तन एवं साधना का आयतन रही है। उर्वरा प्रकृति ने मानव जीवन की समस्त आवश्यक सामग्रियों को प्रदान कर, उसके योगक्षेम को संपन्न कर उसकी सभी ऐहिक समस्याओं का सम्यक् समाधान करके उसे पारलौकिक चिन्तन की ओर प्रेरित किया। इस प्रकार जीवन संग्राम से उन्मुक्त मानव की प्रवृत्ति स्वतः अध्यात्म चिन्तन की ओर हुई। अपवर्गप्रदायिनी, चिन्तनशील इस भारत भूमि पर विचार के मेघ सदैव ज्ञानामृत की वर्षा करते रहे और अनेकानेक ऋषि, मनीषी, विचारक यहाँ पर अवतीर्ण हुये। इसी कारण इस भूमि की प्रभूत प्रशंसा की गई है।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

—विष्णु० २।३।२४

इसलिए निसर्गतः विचार प्रधान चिंतनशील इस भारतभूमि में आदि काल से ही अनन्यनिष्ठा एवं अनवरत अध्यवसायपूर्वक अध्यात्मविद्या की आराधना हुई। जगत् के विविध विस्मयपरिपूर्ण, आश्चर्यमय तत्त्वों के निरन्तर अनुशीलन परिशीलन में मानव निरत रहा और गहन अध्ययन, अविरत अभ्यास एवं सतत साधना द्वारा सत्य का सम्यक साक्षात्कार किया और अपने उस प्रत्यक्षीकृत ज्ञान को शब्दों में निबद्ध किया। इसी कारण उनकी 'ऋषि' संज्ञा है।

'ऋषिर्दर्शनात्', 'साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयोबभूवुः'

—निरुक्त

इस रूप से 'पराविद्या' सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम इस आर्यभूमि भारत देश में हुई ।

इस प्रकार हमारे पूर्वजों ने विविध विषयों का दर्शन, चिन्तन किया । उनके मनन के प्रमुख विषय थे—हम कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? इस सर्वतो दृश्यमान् जगत् का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस इस सृष्टि का कर्ता, नियन्ता कौन है ? स्थावर-जङ्गम रूप इस विरूप प्रपञ्च का निमित्त एवं उपादान कारण क्या है ? यह चेतन है अथवा अचेतन ? इस रचना का प्रयोजन क्या है ? जन्म-मृत्यु का रहस्य क्या है ? आत्मा नित्य है अथवा अनित्य—

**येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।**

—कठ० १।१।२०

ईश्वर-ब्रह्म, जीव-आत्मा क्या हैं ? सुख क्या है और दुःख क्या है ? जीवन में कर्मों का क्या महत्व है ? ये कर्म स्थायी हैं या अस्थायी ? मृत्यु के साथ ही क्या इस जीव तथा कर्मों का पूर्णतः विनाश हो जाता है अथवा कुछ शेष भी वचा रहता है ? शुभ कर्म ही क्यों करने चाहिए जवकि उनके संपादन में दुःख की अनुभूति होती है और मार्ग में विविध प्रकार की वाधायें उपस्थित होती रहती हैं । ऋत का नियामक, प्रेरक कौन है ? जगत् के समस्त क्रियाकलापों में जो शाश्वत, अविचल नियम दृष्टिगोचर होता है, उसका धर्ता कौन है ? नित्यप्रति प्रभात काल में प्राची के मुख को अपनी स्वर्णिम प्रभा मंडल से मंडित करने वाली उषस् का आगमन, दिन में सूर्य प्रकाश से तमस् निवारण एवं जीवनदान, रात्रि में आह्लादक पीयूषस्रावी चन्द्र एवं नक्षत्रसमुदाय की उपस्थिति ! किसकी सामर्थ्य से ये सूर्यचन्द्रग्रहनक्षत्र इत्यादि अति समुन्नत आकाश में स्थित हैं ? ये सव गिर क्यों नहीं पड़ते ? दिन में ये नक्षत्रमंडल कहाँ चले जाते हैं ? विस्तृत नभः प्रदेश में श्यामल

जीमूतवाहन की उमड़ घुमड़ तथा सुखद वर्षा, धरती को शस्यश्यामला एवं रमणीय बनाने वाली तथा मानवमन को मोहित करने वाली विविध ऋतुओं का अवतरण ? अनन्त नदियों का जल सदैव समुद्र में जाता रहता है फिर भी वह कभी पूर्ण नहीं होता, समभाव में स्थित रहता है इत्यादि रहस्यों ने ऋषियों के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट किया और उन्होंने इन तत्त्वों के ऊपर गहन चिन्तन किया और अनवरत अध्यवसाय के अनन्तर अपने प्रातिभ चक्षुओं द्वारा उनके यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार किया। इन्हीं रहस्यों का निरूपण दर्शनसाहित्य में किया गया है।

अतएव विचारों का रसमय निर्झर ही दर्शन हैं। इनके अनुशीलन से अतीव दुर्बोध निगूढ़ एवं विलक्षण ईश्वर-जीव जगत् त्रिविध तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का सम्यक् ज्ञान होता है। अतः प्रमुख रूप से इन्हीं त्रिविध तत्त्वों का प्रमाणिक विवेचन ही भारतीय दर्शन का प्रतिपाद्य विषय है। अत्यन्त सूक्ष्म परमतत्त्व के पूर्णतः स्वरूपज्ञान के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम स्थूल पदार्थों का साक्षात्कार किया जाय इसीलिए स्थूल से क्रमशः सूक्ष्म की ओर अग्रसर होते हुये ये 'दर्शन' अपने गन्तव्य को प्राप्त करते हैं। चार्वाक-बौद्ध-जैन न्यायवैशेषिक इत्यादि दर्शन स्थूल पदार्थों का ही मुख्य रूप से निरूपण करते हैं तथा सांख्ययोगवेदान्तमत सूक्ष्म तत्त्वों का दर्शन कराते हैं। प्रमाण तथा नय के द्वारा ही पदार्थ की पूर्णतया प्रतीति होती है इसलिए न्यायदर्शन प्रधानरूप से प्रमाणों की मीमांसा करता है। वैशेषिकदर्शन द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाय एवं अभाव रूप सप्त पदार्थों की मीमांसा करता है। प्रकृति-पुरुष रूप अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों के स्वरूप का विवेचन सांख्यसिद्धान्त करता है। योगशास्त्र मुख्य रूप से साधनामार्ग को बतलाता है जिसके अनुसरण से सूक्ष्म तत्त्वों के स्वरूप का सम्यक् दर्शन हो सके। अद्वैत वेदान्त तो समस्त जगत् की अद्वयसत्ता

ब्रह्म रूप में, अनेकत्व का एकत्व रूप में दर्शन कराता है, जो अध्यात्म-चिन्तन की पराकाष्ठा है और यही गन्तव्य है, मानव जीवन का परम प्रयोजन है और इसी की सिद्धि लिये ही सभी दर्शनों की प्रवृत्ति देखी जाती है।

## भारतीय दर्शन का प्रयोजन

❀

भारतीय दर्शन का प्रयोजन मानव जीवन के प्रयोजन से भिन्न नहीं है। जीवन के साथ दर्शन का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः मानव के लक्ष्य की सिद्धि ही दर्शन का परम प्रयोजन है। जीवन के उद्देश्य को सम्पन्न करने में ही दर्शन-सृष्टि की सार्थकता है। इसलिये पुरुष के प्रयोजन की परिपूर्णता में भारतीय दर्शन सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हैं। परमेश प्रदत्त मानव जीवन अत्यल्प कालीन होता है और इस काल में भी विविध प्रकार की बाधायें उपस्थित होकर उसके कर्म-पथ में व्यवधान प्रस्तुत करती रहती हैं। साथ ही सागर की तरलतरङ्गों के समान उसका जीवन पूर्णतः चञ्चल, अस्थिर होता है। न जाने किस क्षण मृत्यु उसे अपना ग्रास बना ले। इसलिये इस सर्वथा अनिश्चित जीवन काल में अपने अभिमत, अभिलाषाओं की अधि-गति करना पुरुष के लिये संभव नहीं। मानव के कर्त्तव्य क्या हैं और वह इन कर्मों का किस प्रकार कुशलता पूर्वक सुगम रीति से संपादन कर सके, इसी दृष्टि से तत्त्व द्रष्टा एवं अलौकिक मेधा सम्पन्न ऋषियों ने मानवजीवन के चार प्राप्तव्य सुनिश्चित किये १ अर्थ २—धर्म ३-काम ४-मोक्ष। इन्हीं की संज्ञा 'पुरुषार्थ' है और इन्हीं की सम्यक् सिद्धि के लिये उन्हीं ऋषियों ने ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास रूप से चतुर्विध आश्रम-व्यवस्था का विधान किया; जिससे निर्धारित समय में इन पुरुषार्थों की प्राप्ति का यथा-

शक्ति पूर्ण प्रयास किया जा सके। किन्तु वास्तविक रूप में इन चतुर्विध पुरुषार्थों में से दो साधन तथा दो साध्य हैं। अर्थ एवं धर्म साधन तथा काम एवं मोक्ष साध्य हैं। अर्थ के द्वारा लौकिक अभ्युदय, सुख की तथा धर्म द्वारा शाश्वत आनन्द, मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः प्रधान रूप से काम एवं मोक्ष दो ही पुरुषार्थ हैं। यही दोनों पुरुष के लिये प्राप्तव्य हैं और इन दोनों की ही सिद्धि भारतीय दर्शन से होती है। शुभ कर्मों के सम्पादन से लौकिक उत्कर्ष तथा अनन्तर ज्ञान द्वारा परमानन्द की उपलब्धि होने से दोनों ही प्रयोजनों की परिपूर्णता दर्शन द्वारा हो जाती है।

इस जगत् के समस्त मानव आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक रूप त्रिविध ताप से संतप्त हैं। दुःख असह्य वेदनीय होता है। अतः दुःख विघात से उद्विग्न मानव उसके समूल समुच्छेद का प्रयास करता है। दुःख अपघातक का यही प्रयास 'दर्शन' नाम से विश्रुत है जो तापप्रपीडित मानव को इस क्लेशपरिपूर्ण संसार से आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक दुःखनिवृत्ति प्रदान करता है। अतः दुःख के परिहार पूर्वक समस्त दुःखाभाव रूप तथा आनन्द रूप अपवर्ग प्राप्ति के पथ को प्रशस्त करना ही भारतीय दर्शन का परम प्रयोजन है। त्रिविध ताप से संतप्त मानव को शान्ति प्रदान करने के लिये ही दर्शन शास्त्र का आविर्भाव होता है। इसलिये दर्शनशास्त्र दुःख की व्यावहारिक सत्ता की व्याख्या करके उसके निराकरण के साधन का विवेचन करता है। संसार-संसारहेतु-मोक्ष-मोक्षोपाय रूप से दर्शन की चतुर्धा प्रवृति होती है। इस जगत् में दुःख की सत्ता है, इस दुःख का कारण है, मोक्ष समस्त दुःखों का अभाव रूप एवं आनन्दात्मक है, इस मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है, मोक्ष की प्राप्ति संभव है। इस प्रकार सभी दर्शन स्वीकार करते हैं कि अविद्या ही समस्त दुःखों का मूल कारण है और ज्ञान ही मोक्ष का सर्वोत्तम साधन है—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—

यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। परम तत्त्व आत्मज्ञान, स्वरूपसाक्षात्कार अथवा ब्रह्म ज्ञान द्वारा ही सभी दुःखों की सार्वकालिक एवं नियत रूप निवृत्ति तथा मोक्ष की उपलब्धि होती है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

—श्वेता० ३।८ सद

तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—जब इस प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है, तब वह पुरुष ज्ञानाग्नि द्वारा बन्धन स्वरूप निःशेष कर्मसमुदाय को भस्मसात् करके कैवल्य को प्राप्त कर लेता है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

—कठ० २।३।१४

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

—मुण्डक० २।२।८

अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्याऽमृतमश्नुते।

—ईश० ११

अतः सभी दर्शनों में ज्ञान द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

—द्रव्यसंग्रह १।१

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णय वादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानांतत्त्वज्ञानान् निःश्रेयसाधिगमः ।

—न्यायसूत्र १।१।१

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानांपदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।

—वैशेषिकसूत्र १।१।४

व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात् ।

—सांख्यकारिका २ एवं ६४,६७ ६८

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ।

—योगसूत्र ३।५५

इस प्रकार ज्ञान को ही सर्वत्र मोक्ष का साधन माना गया है। अतः दर्शन के माध्यम से ईश्वर-जोव जगत् रूप त्रिविध तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का सम्यग ज्ञान होने से अविद्या के विनाश के अनन्तर सकल बन्धनों, दुःखों से विनिर्मुक्ति रूप मोक्ष परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है । यही स्वरूपप्रतिष्ठा है। इसलिए मोक्ष, निर्वाण, निःश्रेयस, कैवल्य अपवर्ग सिद्धि के पथ को प्रशस्त करना ही समस्त भारतीय दर्शनों का परम प्रयोजन है। यह मोक्ष जीवन काल में ही प्राप्त होने वाला है। इसी को 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। साथ ही कर्मसिद्धान्त के महत्व का प्रतिपादन कर, दर्शनशास्त्र मानव को सदैव शुभकर्मों में ही प्रवृत्त करता है और असन्मार्ग से निवृत्त करता है। कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य का बोध करना भी दर्शन का प्रयोजन है। इस रूप से मानव को शुभ कर्म के लिये प्रेरित करना, उसे कर्मनिष्ठ बनाना, दर्शन का उद्देश्य है। संक्षेप में यही

समीचीन है कि लौकिक अभ्युदय एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थ को सम्पन्न करना ही भारतीय दर्शन का प्रयोजन है।

## भारतीय दर्शन की विशेषताएँ

❀

भारतीय दर्शनसाहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं विशाल है। अनेक शाखा प्रशाखाओं के रूप में यह निरन्तर विकास को प्राप्त करता चला आ रहा है। सदा से ही मनीषियों के गहन अध्ययन, मनन एवं चिन्तन के विषय दर्शन रहे हैं। भारतीय वाङ्मय में इन दर्शनों का अत्यन्त महनीय एवं गौरवपूर्ण स्थान है। उर्वरा भारतीय प्रज्ञा के उत्कृष्टतम फल के रूप में ही दर्शन हैं। ज्ञान एवं चिन्तन की पराकाष्ठा इनमें उपलब्ध होती है। अपनी अनुपम विशेषताओं के कारण ही भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में ये दर्शन अपनी सुप्रतिष्ठित गरिमा को बनाये हुये हैं। इनकी विशेषतायें महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं—

१—अविच्छिन्नधारा : आर्य सभ्यता एवं संस्कृति के वेद ही प्राचीनतम एवं प्रशस्ततम रत्न हैं। हमारी संस्कृति के यही सुप्रतिष्ठित आधार हैं। तपः पूत ऋषियों की नवोन्मेषशालिनी प्रातिभ दृष्टि द्वारा साक्षात्कृत अखण्ड नित्य परम ज्ञान के संनिधान ही वेद हैं, जो सकल कलुष विरहित हैं। भारतीय दर्शनों के मूल स्रोत यही वेद हैं[1]। इस प्रकार आदिम साहित्य वेदों

1. The Mantras(hymns),especially the later ones in the Rgveda, Constitute actual beginning of Indian Philosophy—

A Source Book in Indian Philosophy—edited by S. Radhakrishnan & Charles A. Moore— P. XV III

से समुद्भूत हुई दर्शन की स्रोतस्विनी अविच्छिन्न, अव्यवहित एवं अप्रतिहत रूप से प्रवाहित होती हुई चली आ रही है। इसके इस नैसर्गिक प्रवाह में कभी भी अवरोध एवं विराम की स्थिति दृष्टिगोचर नहीं होती। समस्त मानव के मङ्गल संपादनार्थ पुण्य सलिला भगवती भागीरथी के अजस्र, स्वच्छंद, स्वाभाविक प्रवाह की भाँति भारतीय दर्शन भी अविरति गति से अग्रसर होता हुआ चला आ रहा है। पाश्चात्यदेशीय विरोधी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के अत्यन्त प्रबल थपेड़ों से बार बार झकझोरे जाने पर भी वह सभी बाधाओं को दूर करता हुआ, अपने गन्तव्य पथ से विचलित न होता हुआ सदैव समृद्धि को ही प्राप्त करता चला आ रहा है। भारतीय दर्शन के विकास की यह धारा कभी भी अवरुद्ध न हुई। इस प्रकार के विकास की दीर्घ परम्परा[1] विश्व साहित्य में अप्रतिम है। पाश्चात्य दर्शनों में विच्छेदरहित विकास की इस प्रकार की धारा उपलब्ध नहीं होती।

---

1 A) At the very outset, it should be emphasized that Indian Philosophy has had an extremely long and complex development, much more complex than is usually realized, and probably a longer history of continuous development that any other philosophical tradition.

A Source Book in Indian philosophy—
P. XVII

1(B) The Indian philosophical tradition is man's oldest as well as the longest continuous development of speculation about the nature of reality and man's place therein. It began with the

२—संदेह एवं जिज्ञासा : संदेह, जिज्ञासा एवं ज्ञान भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता है। दार्शनिक सृष्टि के उद्भव में प्रमुख रूप से संदेह एवं जिज्ञासा ही प्रधान हेतु हैं। यह जगत् विस्मय तथा अनेक प्रकार के आश्चर्यों से परिपूर्ण है। प्रकृति नटी की कौतुकी लीला अत्यन्त अद्भुत एवं विचित्र है। प्रकृति के समस्त क्रिया कलापों में एक विलक्षण, नियम, क्रम तथा व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। प्रकृति की यह नियामिका शक्ति अचिन्त्य, अगम्य है। इसके व्यापार सामान्य मानव की बुद्धि के परे हैं। इस असीम अपरिमित संसार में मानव अपने को एक अति तुच्छ परिमित शक्तियुक्त साधारण जीव के रूप में पाता है। अतः इन अत्यधिक दुर्बोध रहस्यों के यथार्थ स्वरूप के विषय में तथा स्वयं अपनी स्थिति के विषय में जिज्ञासा होती। इस जिज्ञासा की तृप्ति के लिये मानव अनवरत घोर अध्यवसाय करता है और इस सतत साधना के परिणाम स्वरूप भारतीय प्रतिभा ज्ञान के परम प्रकृष्ट फल के रूप में 'दर्शन' को प्रस्तुत करती है। अतः संदेह एवं जिज्ञासा ही भारतीय दर्शन के प्रादुर्भाव में कारण बनते हैं।

जिज्ञासया प्रयोजनं सूत्रयति।

भामती १।१।१

नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किंतु संदिग्धे।

न्यायभाष्य १।१।१

---

ancient Vedas, which are probably the earliest documents of the human mind that have come down to us, and has continued age ofter age in progressive philosophical advance in the effort to understand life and reality.

A Source Book in Indian Philosophy—

P. XXX

३—दुःखजिहीर्षा: सभी भारतीय दर्शनों की दुःखजिहीर्षा सामान्य विशेषता है। यह संसार अनेक प्रकार के क्लेशों से समाकुल है। सभी मानव आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक रूप त्रिविध ताप से संतप्त हैं। दुःख सदैव असह्य वेदनीय होता है। अतः स्वभावतः सभी मानव इनका समूल समुच्छेद चाहते हैं। सार्वकालिक एवं अवश्यं-भावी रूप से दुःख निवृत्ति के अन्यतम साधन यही दर्शन हैं। अतः दुःखजिहीर्षा ही सभी भारतीय दर्शनों की मूल प्रवृत्ति है। इसकी सिद्धि के लिये ही उनकी प्रवृत्ति होती है। इस संसार में मनुष्य को जब कभी भी सुख की प्राप्ति होती है, तो वह सुख ससीम, परि-च्छिन्न, अस्थाई होता है तथा निष्केवल सुख की तो कभी भी उप-लब्धि होती ही नहीं। वह सुख सदैव दुःख से संमिश्रित रहता है। इसलिये सांसारिक सुख अत्यन्त तुच्छ हेय हैं। अतः अनन्त असीम अपरिच्छिन्न नित्य सुख की प्राप्ति ही मानव का लक्ष्य है। इस प्रकार यद्यपि दुःखजिहीर्षा की भावना से भारतीय दर्शन का जन्म होता है, तथापि इसका पर्यवसान सर्वोत्कृष्ट आदर्श की साधना में, शाश्वत एवं असीम आनन्द की सिद्धि में है। दर्शन का उद्भव आश्चर्यमय कौतुकभरी घटना, मनोविनोद अथवा केवल बौद्धिक संतुष्टि के लिये नहीं होता जैसा कि पाश्चात्य दर्शन की उत्पत्ति में हेतु है। भारतीय दर्शन काल्पनिक जगत् में विचरण नहीं करते। विपद्ग्रस्त जीव की विपत्ति का निराकरण ही इनका प्रधान लक्ष्य है। ये व्यावहारिक हैं इसी कारण दुःख-दुःखहेतु-मोक्ष-मोक्षोपाय रूप से भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति होती है। दुःख के विवेचन से प्रारम्भ होकर नित्य आनन्द प्राप्ति के उपाय की व्याख्या से वे समाप्त होते हैं। इस तरह समस्त प्राणियों के दुखःविघात की भावना से वे युक्त हैं—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

४—अपवर्गसिद्धि : अपवर्गसिद्धि ही समस्त भारतीय दर्शनों का परम प्रयोजन है और यही अपवर्ग मानव जीवन का भी चरम पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये व्यावहारिक साधनों की खोज ही दर्शन है। भारतीय दर्शन का लक्ष्य मनोविनोद मात्र नहीं, अपितु मानव जीवन के चरम उद्देश्य की सिद्धि है। त्रिविध दुःखों का आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक अभाव तथा अनन्त असीम नित्य आनन्द की प्राप्ति ही मानव का प्राप्तव्य है और इस अवस्था की उपलब्धि में ही मानव जीवन की परिपूर्णता है। भारतीय संस्कृति में भौतिक सुख को कभी भी प्रश्रय नहीं प्रदान किया गया है। भौतिक समृद्धि का महत्त्व नहीं, अपितु आध्यात्मिक उत्कर्ष ही महत्त्वपूर्ण है।[1] भौतिक सुख क्षणिक होते हैं तथा इन्द्रियों को तेजरहित बनाते हैं। नित्य संतोष, सुख को प्रदान करने में वे असमर्थ हैं। अतः भौतिक सुख त्याज्य हैं। अमृतत्त्व रूप शाश्वत आनन्द प्रदान करने में ये असमर्थ है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥
कठ० १।१।२६

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः—कठ० १।१।२७ अ

---

1. The chief mark of Indian Philosophy in general is its concentration upon spiritual ... ... .... ... material welfare is never recognized as the goal of human life.

A Source Book in Indian philosophy—

P. XXIII

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।

गीता ५।२२

'किमहं तेन कुर्यां येनाहं नामृता स्याम्'–बृहदा० २।४।३

यह अपवर्ग मृत्यु के उपरान्त नहीं, अपितु इस जीवन काल में ही प्राप्त होने वाला है। इसी को जीवन्मुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्ति की यह धारणा सभी भारतीय दर्शनों में पाई जाती है और यह उनकी प्रमुख विशेषता है। यद्यपि 'मरणमेवापवर्गः' को ही चार्वाक दर्शन मोक्ष स्वीकार करता है। किंतु केवल देहत्याग से कभी भी मुक्ति नहीं प्राप्त होती। इस विषय में चार्वाक की यह अत्यन्त स्थूल बाह्य दृष्टि है जो अन्य दर्शनों को अभिमत नहीं। वास्तव में ज्ञान द्वारा कर्मबन्धनों से सबन्ध समाप्त हो जाने से अपने ही यथार्थ स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही अपवर्ग है। इस प्रकार अपवर्ग सिद्धि के साधन को प्रशस्त करना भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता एवं प्रयोजन है।

५—आत्मसाक्षात्कार के लिये प्रयास—'अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसंबन्धी' रूप से आत्मा की सत्ता के विषय में सभी दर्शनों में मतैक्य है। सभी मनुष्य अपनी सत्ता के विषय में विश्वास रखते हैं। इसलिये आत्मा ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। किंतु इस आत्मा का स्वरूप क्या है? यह नित्य है अथवा अनित्य? मृत्यु होने से पाञ्चभौतिक शरीर के साथ साथ इसका भी विनाश हो जाता है अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में जिज्ञासा होती ही है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

कठ० १।१।२० अब

**यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो**
**यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।**

कठ० १।१।२९ अब

इस तत्त्व का सम्यक् ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, किंतु सरल नहीं। क्योंकि आत्मा की अपने ही स्वरूप में स्थिति को मोक्ष बतलाया गया है—

**स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः । योगसूत्र० ४।३३**

अतः समस्त भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति आत्मसाक्षात्कार के लिये होती है और इसके यथार्थ स्वरूप का निरूपण ही दर्शन का प्रयोजन है। श्रुतियाँ भी स्वरूपदर्शन के लिये प्रेरणा प्रदान करती हैं—

**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**

बृहदा० २।४।५

६—**अन्तःप्रवृत्ति एवं आध्यात्मिक भावना**—भारतीय दर्शन की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है। यद्यपि वे बाह्य जगत् के स्वरूप का विवेचन करते हैं, किंतु स्थूल जगत् की व्याख्या का एकमात्र उद्देश्य है—अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्जगत् का ज्ञान। यह आत्मतत्त्व अतीव दुर्विज्ञेय, निगूढ़, इन्द्रियातीत है। यह तत्त्व सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तथा महान् से भी महत्तर है। श्रवण द्वारा भी इसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना सुगम नहीं है—

**श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः**

कठ० १।२।७ अब

**तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।**

कठ० १।२।१२ अब

**अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।**

कठ० १।२।२० अब

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से रहित होने के कारण यह आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्बोध है। साथ ही यह आत्मा नित्य है अथवा अनित्य ? मृत्यु होने पर इस पाञ्चभौतिक शरीर के विनाश के साथ साथ क्या इस आत्मतत्त्व का भी विनाश हो जाता है ? इस रूप से विविध प्रकार के प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इन्हीं आध्यात्मिक[1] तथ्यों की मीमांसा ही भारतीय दर्शन का प्रयोजन है, भौतिक जगत् की व्याख्या नहीं। किंतु स्थूल पदार्थों के ज्ञानपूर्वक ही सूक्ष्म तत्त्वों का सम्यक् दर्शन संभव है। अतः सभी दर्शनों में स्थूल से सूक्ष्म पदार्थों का निरूपण किया गया है और सर्वोत्तम दर्शन अद्वैत वेदान्त में समस्त स्थूल सूक्ष्म पदार्थों का उद्भव एक ही निर्गुण निराकार निरवयव सत् चित् आनन्द रूप ब्रह्म से बतलाया गया है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इस प्रकार भारतीय दर्शन की दृष्टि बाह्य नहीं अन्तर्मुखी है। क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर इनकी प्रवृत्ति है और आत्मसाक्षात्कार ही उद्देश्य है।

७—मानव जीवन के साथ संबन्ध—मानव जीवन[2] के साथ

1. The contribution of Indian philosophy, with its agelong spiritual emphasis, is inestimable and indispensable.

A Source Book in Indian Philosophy
P. XXXI

2. In India, philosophy is for life, it is to be lived. It is not enough to know the truth, the truth must be lived. The goal of the Indian is not to know the ultimate truth but to realize it, to beeome one with it.

A Source Book in Indian Philosophy. P. XXIV

भारतीय दर्शन का बहुत ही घनिष्ठ संबन्ध है। मानव जीवन के जो उद्देश्य हैं, उनको संपन्न करना ही दर्शन का प्रधान प्रयोजन है। वास्तव में भारतीय दर्शन का उद्भव पुरुष के पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिये ही हुआ है। इस संसार में सभी मनुष्य त्रिविध दुःख से पीड़ित हैं। इन्हीं के निवारणार्थ ही दर्शन का जन्म होता है। सभी दर्शनों की प्रवृत्ति दुखः निरास के लिये देखी जाती है। केवल बौद्धिक संतुष्टि के लिये अथवा आश्चर्यमय घटना के कारण इनकी उत्पत्ति नहीं हुई है। इसी प्रकार कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सम्यक् बोध करा करके लौकिक अभ्युदय की सिद्धि भी दर्शन का प्रयोजन है। इस रूप से पुरुष के लौकिक अभ्युदय एवं अपवर्ग रूप दोनों ही पुरुषार्थों को संपन्न करने के कारण भारतीय दर्शन का मानव जीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ संबन्ध है और यह उसकी प्रमुख विशेषता है।

८—धर्म के साथ सामंजस्य—भारतीय दर्शन का भारतीयधर्म के साथ अन्योन्याश्रित संबन्ध है। दर्शन द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तत्त्वों के ऊपर ही भारतीय धर्म की सुदृढ़ प्रतिष्ठा है। इसी प्रकार धर्म प्रतिपादित आचार के आचरण बिना दर्शन की भी उपयोगिता नहीं है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वज्ञान एवं जीवन,विचार एव आचार[1]

---

1 (A) The close relationship between theory and practice, doctrine and life, has always been outstanding in Indian thought.

A Source Book in Indian Philosophy.

P. XXIII

1 (B) Indian philosophy is clearly characterized by the synthetic approach to the various aspects of experience and reality, Religion and Philosophy, knowledge and conduct, intuition and

में अद्भुत सामंजस्य है। दार्शनिक विचारों से परिपुष्ट होकर ही धर्म समाज में प्रतिष्ठित होता है। भारतीय धर्म एवं जीवन पर दर्शन का अत्यधिक प्रभाव है। धर्म के प्रचार प्रसार में दर्शन का सदैव महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। उसके विकास में दर्शन कभी भी बाधा नहीं उपस्थित करते। इसी तरह मृत्यु-पुनर्जन्म-जीव-जगत्-ईश्वर इत्यादि दार्शनिक तथ्यों को विश्वासभूमि में स्थापित करने में धर्म का योगदान प्रशंसनीय है। इस रूप से परस्पर सहयोग से दोनों ही समृद्धि एवं स्थिति को प्राप्त करते हैं। अतः धर्म के साथ सामंजस्य होना भारतीय दर्शन की प्रधान विशेषता है।

६—**नैतिकभावना, कर्मसिद्धान्त एवं पुनर्जन्म**—सत्य-अहिंसा-अस्तेय-अपरिग्रह-त्याग-परोपकार-जप-तप-उपासना इत्यादि नैतिक भावनाओं की परिपुष्टि भारतीय दर्शन करते हैं। कर्मसिद्धान्त की बड़ी ही समीचीन एवं तर्कसंगत व्याख्या इनमें की गई है। शुभाशुभ अनेक प्रकार के कर्मों को मनुष्य करता है और स्वकृत कर्मों का फल उसे अवश्यमेव प्राप्त होता है। शुभकर्मों का परिणाम सदैव मङ्गलमय

---

reason, man and nature, God and man, noumenon and phenomena are all brou ht into harmony by the synthesizing tendency of Indian mind. The Hindu is prone to believe even that all the six systems as well as their varieties of sub-systems, are in harmony with one another, in fact, that they complement one another in the total v.sion, which is one.

A Source Book in Indian Philosophy.

P. XXVII

होता है तथा अशुभकर्म दुःख के कारण बनते हैं। कृतकर्म का कभी भी विनाश नहीं होता—

**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। गीता २।४० अत्र**

अतः मनुष्य को सदा शुभकर्म ही करने चाहिये। इस प्रकार भारतीय दर्शन कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सुन्दर मीमांसा प्रस्तुत करके पुरुष को सन्मार्ग पर प्रवृत्त करते हैं तथा असन्मार्ग से उसे विरत करते हैं। साथ ही सभी प्रकार के कर्म मानव-बन्धन के कारण होते हैं—शुभ हों अथवा अशुभ। कर्म का फल नियमतः प्राप्त होता ही है और उस फलभोग के लिये मनुष्य को धृतदेह के संपात के अनन्तर पुनः जन्म लेना ही पड़ता है। इस प्रकार पुनर्जन्म में भारतीय दर्शन का दृढ़ विश्वास है। जब तक मनुष्य समस्त कर्म बन्धनों से विनिर्मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह जन्म-मृत्यु के चक्र में संसरण करता रहता है और उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिये भारतीय दर्शन निष्काम कर्मयोग की सुन्दर शिक्षा प्रदान करते हैं। क्योंकि फल की आकांक्षा से विरहित होकर कर्म संपादन करने पर तृष्णा के अभाव में कृतकर्म का फलभागी वह नहीं बनता। अतः फल-भोग, विपाक के अभाव में पुरुष को पुनः जन्म भी नहीं लेना पड़ता और इस प्रकार वह पुरुष कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है तथा ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि योगियों के कर्म कामना रहित होने से अशुक्ल तथा अकृष्ण होते हैं, जबकि सामान्य मनुष्यों के कर्म शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्णाभिश्रित रूप से त्रिविध होते हैं—

**कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। योगसूत्र ४।७**

साथ ही स्वसंपादित कर्म के संबन्ध में फल की अभिलाषा न होने से उस पुरुष की प्रवृत्ति सदैव शुभकर्मों में ही होगी और बिना प्रयास

के ही सहज में वह अशुभ कर्मों से पराङ्मुख हो जायेगा ! इस प्रकार नैतिक भावनाओं के परिपोषण में भारतीयदर्शन का सुन्दर योगदान हैं। इस रूप से दर्शनशास्त्र-धर्मशास्त्र-आचारशास्त्र में बड़ा ही मनोरम एवं सुन्दर समन्वय भारतीय संस्कृति में उपलब्ध होता है।

१०—समष्टिगतमङ्गल की भावना—समष्टिगत मङ्गल की उच्च भावना से भारतीयदर्शन ओतप्रोत हैं। सभी मनुष्यों को दुःख से प्रपीड़ित देख करके परम अनुग्रह एवं लोक कल्याण की उदात्त भावना से प्रेरित होकर तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने दर्शन रूप अद्भुत एवं अनुपम सृष्टि की उद्भावना की। अपनी सतत साधना एवं अनवरत अध्यवसाय द्वारा उन्होंने उत्कृष्टतम ज्ञान प्रदान किया। पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान उन्होंने कराया और इस प्रकार समस्त मानवों के हित सपादनार्थ अत्यन्त श्लाघनीय प्रयास किया।

११—विश्वमानुष की प्रतिष्ठा तथा एकत्व की भावना—निष्कामकर्मयोग की भावना को मानव हृदय में उद्बुद्ध करके समस्त मानवों में सामञ्जस्य, परस्पर सहयोग की उच्च भावना को भारतीयदर्शन स्थापित करते हैं और इस प्रकार एकत्व के प्रचार, प्रसार एवं प्रतिष्ठा में भारतीयदर्शन का अत्यन्त प्रशंसनीय प्रयास है। क्योंकि इस संसार में सर्वत्र फल प्राप्ति के लिये ही संघर्ष होता है, कर्मसंपादन में कभी भी कलह, द्वेष नहीं देखा जाता।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ गीता २।४७

इस रूप से निष्कामकर्मभावना तथा कर्त्तव्यपरायणता को भारतीयदर्शन अत्यधिक सुप्रतिष्ठित एवं सबल बनाते हैं। मानव मन में त्याग की सुन्दर भावना को प्रबुद्ध करना एवं उसको पालन करने की प्रेरणा देना दर्शन की विशेषता है। परम पुरुषार्थ अपवर्ग की सिद्धि में त्याग

को अत्यन्त उपादेय बतलाया गया है। अमरत्वप्राप्ति के लिये सर्वस्व-त्याग आवश्यक है—

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ।।

महानारायण०

इस प्रकार मानवों में विद्यमान अत्यन्त गर्हित, निन्द्य, परस्पर कलह एवं द्वेष इत्यादि कलुषित भावनाओं का निराकरण कर सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय तथा समान उद्देश्य की सिद्धि के लिये, संगच्छध्वं संवदध्वं सदृश सुन्दर प्रेरणा भारतीय दर्शन प्रदान करते हैं।

साथ ही समस्त सृष्टि एक ही ब्रह्म से समुद्भूत हुई है। अतएव विभिन्न रूप में प्रतीयमान मानवों में किंचिन्मात्र भी भेद नहीं है। सभी एक हैं। इस रूप से भेद में अभेद, अनेकत्व में एकत्व की स्थापना भारतीयदर्शन करता है। विश्वमानवसमाज के एकत्व के लिये किया गया दर्शन का यह प्रयास अति विलक्षण एवं अनुपमेय है। विश्वसाहित्य में इस प्रकार का कोई भी निदर्शन उपलब्ध नहीं होता। दर्शनशास्त्र के बिना मानव समाज में एकता की स्थापना सुकर नहीं है।

२—आशावाद एवं आध्यात्मिक असंतोष—भारतीयदर्शन पर निराशावाद की भावना को प्रशस्त करने का मिथ्या एवं असंगत आरोप लगाया जाता है, क्योंकि सभी दर्शन स्वीकार करते हैं कि यह संसार नाना प्रकार के क्लेशों से समाकुल है। तीन प्रकार के दुःखों से सभी पीड़ित हैं। यद्यपि भारतीयदर्शन के उद्भव में वर्तमानकालीन आध्यात्मिक असंतोष भी हेतु रूप में विद्यमान है, तथापि यहाँ पर आशा की सुन्दर भावना का संचार किया गया है। अपने जीवन में मनुष्य को अनेक प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है। आशा-निराशा, लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों

से उसे भयंकर सग्राम करना पड़ता है। एकान्ततः आह्लादकारी स्वर्णिम भविष्य की वह परिकल्पना करता है। दुःखविरहित सुखमय संसार की वह सृष्टि करता है। कल्पनाओं के बल पर विविध प्रकार की योजनाओं का निर्माण करता है। परन्तु उसकी अत्युच्च महत्त्वाकांक्षायें काम्य सफलता के समुन्नत शिखर से धराशायी होकर चकनाचूर हो जाती हैं। वह अपना साहस धैर्य खो बैठता है, उसकी कमर टूट जाती है, वह हताश, शक्तिरहित हो जाता है। ऐसी दशा में ही दर्शन निराश मानव को प्रेरित करता है, उसे शक्ति संबल प्रदान करता है। मनुष्य में नवजीवन का सचार करता है तथा जीवन संग्राम में अपनी प्रतिकूल शक्तियों, बाधाओं से जूझने तथा उन पर विजयश्री लाभ के लिये प्रोत्साहित करता है। इस कथन की सत्यता का गीता उत्कृष्ट निदर्शन है। युद्धविमुख अर्जुन को कर्त्तव्यपरायण बनाने के लिये ही गीता का जन्म होता है। अतः यह कहना यथार्थ ही है कि भारतीय दर्शन दुःखवाद का प्रत्याख्यान करके आशावाद की स्थापना करता है। निराशा को आशा में परिणत करने तथा दुःखनिरास पूर्वक निस्सीम सुखसिद्धि के साधन को दर्शन बतलाता है। इस सबन्ध में डॉ॰ नन्दकिशोर देवराज का मत यथार्थ ही है —

"भारतीय दर्शन का दुःखवाद उस वियोगिनी के आँसुओं की तरह है जिसे अपने प्रियतम के आने का दृढ़ विश्वास है, परन्तु जो वियोग की अवधि निश्चित रूप से नहीं जानती। यही नहीं, भारत की दार्शनिक वियोगिनी यह भी जानती है कि वह अपने प्रयत्नों स धीरे धीरे वियोग की घड़ियों को कम कर सकती है। ससार अपने साधारण रूप में दुःखमय है, किंतु दुःख ही जीवन की अन्तिम नियति नहीं है। इस दुःख का एक कारण है, इसके निवारण और आनन्द की प्राप्ति का एक साधन है। अज्ञान समस्त दुःखों का मूल है। ज्ञान द्वारा आनन्द की प्राप्ति की जा सकती है। आनन्दमय आदर्श

और साधना द्वारा उसकी प्राप्ति में भारतीय दर्शन का अखण्ड विश्वास है, अतः दुःख की भावना में जन्म लेने पर भी उसे आशावादी होने का श्रेय देना होगा।"

[ भारतीयदर्शनशास्त्र का इतिहास द्वि० संस्करण, पृष्ठ २२-२३ ]

इस प्रकार यद्यपि दुःख की भावना एवं आध्यात्मिक असंतोष से भारतीय दर्शन का उद्भव होता है, तथापि इसकी परिणति अनन्त आनन्द की उपलब्धि के साधन में है।

१३—ज्ञान एवं अज्ञान—भारतीय दर्शन में ज्ञान का बहुत ही अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान ही परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष में प्रमुखतम हेतु है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। साथ ही अज्ञान सभी दुःखों का करण है। इसी कारण मनुष्य का बन्धन होता है—

तस्य हेतुरविद्या—— योगसूत्र २।२४

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः——सांख्यसूत्र ६।६८

इसीलिये भारतीयदर्शन में ज्ञान पर सर्वाधिक बल दिया गया है। आत्मसाक्षात्कार हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। स्वरूपदर्शन का अभिप्राय है कि इतर तत्त्वों के साथ आत्मा की भेदप्रतीति हो जाय। इसी अन्यताख्याति के लिए ही ज्ञान के साधनभूत विविध प्रमाणों की मीमांसा भारतीयदर्शन में की गई है।

१४—सत्यान्वेषण—सत्य की खोज[1] भारतीयदर्शन की प्रधान विशेषता है। सत्य के यथार्थ स्वरूप की जिज्ञासा सभी दर्शनों में प्राप्त होती है। यथार्थ ज्ञान का अभिप्राय है, अयथार्थ का भी सम्यक् ज्ञान

1. Philosophically, the study of Indian Philosophy is important in the search for the truth.
A Source Book in Indian Philosophy. P. XXXI

हो। इसी कारण भारतीयदर्शन में स्थूल से सूक्ष्म, भूत से अध्यात्म, अचित् से चित् की ओर प्रगति दिखलाई देती है। 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणात्' पदार्थ के स्वरूप का तत्त्वतः ज्ञान प्रमाण द्वारा होता है। अतः प्रमेयों के अनुसार ही अनेक प्रकार के प्रमाणों की सत्ता स्वीकार की गई है। इस परिवर्तनशील गतिमान ब्रह्माण्ड के अन्तस्तल में सर्वत्र कोई अपरिवर्तनशील नित्य तत्त्व निहित है, सभी में अनुस्यूत है। यही ब्रह्म है जो समस्त पिण्डों में समान रूप से आत्मा के रूप में स्थित है। इसी अन्तर्यामी परमतत्त्व के साक्षात्कार के लिये आत्मदर्शन अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार सत्यान्वेषण के लिये भारतीयदर्शन की प्रवृत्ति होती है।

१५—आगमप्रामाण्य—सभी भारतीय दर्शन अपनी प्रामाणिकता के लिये किसी न किसी सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित हैं। जिन पर स्थित होकर वे पर मतों का खण्डन तथा स्वकीय मत का मण्डन करते हैं। और इस प्रकार स्वप्रतिपाद्य सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-मीमांसा-वेदान्त इत्यादि दर्शन तो श्रुतिमूलक हैं ही, जो अपने प्रामाण्य के लिये वेदों की अपेक्षा रखते हैं। किन्तु जैन-बौद्ध इत्यादि नास्तिक कहे जाने वाले दर्शन भी अपने अपने धर्मग्रन्थों पर आश्रित हैं। पूर्णतः भौतिकवादी चार्वाकदर्शन भी बृहस्पति विरचित सूत्रों को ही अपनी प्रतिष्ठा का आधार बनाता है। इस प्रकार सभी दर्शन अपनी पुष्टि के लिये अपने-अपने आगम ग्रन्थों पर आश्रित हैं।

१६—संप्रदायप्रधान—भारतीयदर्शन विशेष सिद्धान्त संबद्ध, संप्रदाय प्रधान हैं, वे सार्वजनीन हैं। किसी व्यक्तिविशेष के दर्शन नहीं हैं, यथा पाश्चात्यदर्शन,सुकरातदर्शन,अरस्तूदर्शन इत्यादि। अनेक आचार्य अपनी सत्ता का विलय करके अपने संप्रदाय के सिद्धान्तों का ही समर्थन करते हैं। भाष्य-वृत्ति-टीका-उपटीका इत्यादि द्वारा प्रतिकूल मतों

का निराकरण करके स्वसम्प्रदायसम्मतसिद्धान्त का समर्थन करते हैं। अनेक युक्तियों द्वारा अपने ही अभिमत सिद्धांत की स्थापना तथा उसकी समृद्धि करते हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग इत्यादि संप्रदायों की प्रधानता है, गौतम-कणाद-कपिल पतञ्जलि इत्यादि आचार्यों की नहीं। अतः यहाँ पर व्यक्तिविशेष का नहीं, अपितु सिद्धान्तविशेष का महत्त्व है। न्यायदर्शन आचार्य गौतम का दर्शन नहीं, अपितु न्यायसंप्रदाय का दर्शन है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में दार्शनिक परपरा की प्रधानता उपलब्ध होती है।

१७—स्वतन्त्रस्थिति—भारतीयदर्शन का भारतीय साहित्य में अपना विशिष्ट एवं स्वतन्त्र स्थान है। स्वतन्त्र रूप से इनका उद्भव एवं विकास हुआ है। अन्य शास्त्रों के साथ, बिना किसी मिश्रण के अपनी स्वतन्त्र दिशा में इनका विकास हो रहा है। जिस प्रकार पाश्चात्यदर्शन स्वदेशीय धर्मशास्त्र आचारशास्त्र,समाजशास्त्र, इतिहास, राजनीति, अर्थ-शास्त्र इत्यादि के साथ सबद्ध होकर उत्पन्न हुये हैं तथा उनके सहयोग से ही विकास को भी प्राप्त कर रहे हैं। किंतु इस प्रकार की स्थिति भारतीय दर्शन की नहीं है। यद्यपि भारतीयदर्शन का मानव जीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ठ संबन्ध है और इसलिये इन सभी शास्त्रों की उन्नति में उसका अत्यधिक योगदान है तथापि किसी शास्त्रविशेष के अङ्ग के रूप में भारतीय दर्शन कभी भी नहीं रहे हैं और न हैं। इसी अर्थ में भारतीय दर्शन की अपनी स्वतन्त्र स्थिति है।

१८—विवेचनात्मक दृष्टिकोण—विवेचनात्मक दृष्टिकोण भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता है। किसी भी विषय पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन-मनन, तर्क-वितर्क करने तथा उस पर विचार अभिव्यक्त करने की इनमें अद्भुत विशेषता है। यह विवेचनात्मक दृष्टि भारतीय प्रज्ञा की चिन्तनशील उर्वराशक्ति का परिचायक है। विचारशीलों चिन्तकों साधकों तपस्वियों का यह देश है। अतः प्रारम्भ काल से ही भारतीय

तत्त्वज्ञान समीक्षात्मक रहा है। अपनी नवोन्मेषशालिनी तार्किक बुद्धि की कसौटी पर अनुभूत सिद्धान्तों के परखने का वे प्रयास करते हैं। सभी अपनी-अपनी दृष्टि से तत्त्वान्वेषण, सत्य की खोज में प्रवृत्त होते हैं। इसी कारण विविध दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय इस भारतभूमि में हुआ है। सभी की अपनी-अपनी परम्परा है और वे निर्लिप्त भाव से अपने पथ में अग्रसर होते हैं और स्वतन्त्र रूप से पदार्थों के स्वरूप का निरूपण, रहस्यों का उद्घाटन करते हैं। ईश्वर, आत्मा जैसे अत्यन्त निगूढ़ तत्त्वों के विषय में भी अपना मत प्रस्तुत करने में किंचिन्मात्र भी संकोच का अनुभव नहीं करते। पूर्णरूप से वेदसम्मत पूर्वमीमांसा तथा सांख्यदर्शन भी स्पष्टतः ईश्वर जैसे तत्त्व की सत्ता का पूर्णतः प्रत्याख्यान करने में थोड़ा भी नहीं हिचकते। स्वप्रतिपाद्य सिद्धान्तों के प्रतिकूल परकीय मतों का वे अच्छी तरह प्रबल युक्तियों द्वारा खण्डन तथा अपने मतों का विधिवत् मण्डन करते हैं। पृथिवी-जल-तेज-वायु रूप चतुर्विध अचेतन महाभूतों के संघात को ही आत्मा स्वीकार करने के पक्ष में चार्वाक है। बौद्धमत में यह आत्मा विज्ञान-मय, शून्य तथा जैननय में स्वदेहपरिणाम तथा चेतन है। न्याय-वैशेषिक में यह आत्मा नित्य तो है पर स्वभावतः अचेतन है। अद्वैत वेदान्त में यह सच्चिदानन्दमय है। सांख्य की दृष्टि में यह जगत् सत् है पर अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह मिथ्या है। इस प्रकार सभी दर्शनों की अपनी-अपनी दृष्टि है और इस प्रकार तत्त्वमीमांसा में उनका विवेचनात्मक दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होता है। साथ ही भारतीय दर्शन की दृष्टि अत्यन्त व्यापक, विशाल एवं अतिशय उदार है।

१६—साधन की एकता—यद्यपि तत्त्वदर्शन के संबन्ध में तथा अनेक सिद्धान्तों के विषय में भारतीय दर्शनों में परस्पर मतभेद है। मोक्ष रूप परमपुरुषार्थ के स्वरूप में उनमें मतैक्य नहीं है तथा इसकी सिद्धि के लिये उनकी प्रवृत्ति में भी पर्याप्त पार्थक्य है। तथापि कुछ

मूलभूत साधनों में उनकी एकता है। इन्द्रियनिग्रह, चित्तवृत्ति-निरोध, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, त्याग, मैत्री, करुणा, मुदिता का सर्वत्र महत्त्व स्वीकार किया गया है। योगाङ्गों की उपयोगिता सभी के लिये है। कृतकर्म का विपाक अवश्य प्राप्त होता है। अतः निष्कामकर्मयोग सर्वत्र उपादेय है। कर्म, उपासना, ज्ञान का सभी में अत्यधिक महत्त्व है। मोक्षप्राप्तिके लिये सभी व्यावहारिक साधनों की खोज करते हैं। ये साधन व्यवहार्य हैं। अतः दर्शन व्यावहारिक हैं और इनके द्वारा प्रतिपादित साधनों के अभ्यास से मोक्षप्राप्ति संभव है। इस रूप से साधन की एकता होना इनकी विशेषता है।

२०—संगीतमयता—संगीतमयता भारतीय दर्शन की अद्भुत एवं विलक्षण विशेषता है। दार्शनिक सिद्धान्त अतीव दुर्बोध, अत्यन्त दुर्गम तथा नीरस हैं। इनको सुग्राह्य सुगम बनाने के अभिप्राय से इन सिद्धान्तों को संगीत के पुट के साथ निबद्ध करने का प्रयास भारतीय दर्शन में किया गया है। उपनिषद्, महाभारत, गीता, पुराणसाहित्य, सांख्यकारिका, जैमिनीयन्यायमाला, द्रव्यसंग्रह इत्यादि ग्रन्थों में दार्शनिक सिद्धान्तों को श्लोकों में, सरस काव्य की पद्धति में निबद्ध किया गया है। सूत्रों की भी रचना प्रायः इसी प्रकार की है। इस प्रकार कविता, पद्य के रूप में दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना भारतीय दर्शन की बहुत ही स्पृहणीय एवं अनुपम विशेषता है।

## वेदों में दार्शनिक तत्त्व

❀

भारतीय वाङ्मय में वेद प्रशस्ततम एवं प्राचीनतम रत्न हैं। इन वेदों में मुख्य रूप से ऋग्वेद में 'अग्निमीळे पुरोहितम्, इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्, धीरा त्वस्य महिना जनूंषि' इत्यादि रूप से विविध देवताओं की बड़ी ही भव्य एवं मनोरम प्रार्थना की

गई है। इस प्रकार ऋग्वेद अनेक देवों की सुन्दर स्तुतियों का संकलन है। प्रधान रूप से इसमें बहुदेववाद की स्थिति प्राप्त होती है। किंतु इसके अन्तिम भाग दशम मण्डल में तथा अन्यत्र कुछ स्थलों पर ऐकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की गई है। एक ही तत्त्व को सर्वस्व कहा गया है। वही समस्त सृष्टि का स्रष्टा, धारक एवं संहारक है। उसी से इस जगत् का विकास तथा पुनः उसी में इसका तिरोभाव होता है। यही तत्त्व संसार का संचालक एवं नियामक है। पुरुष, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, नासदीय, वाक् इत्यादि सूक्त सर्वेश्वरवाद के संस्थापक हैं।

ईश्वर-जीव-जगत् रूप से दर्शनशास्त्र के त्रिविध प्रमुख प्रमेय, प्रतिपाद्य विषय हैं। इनके संबन्ध में वैदिक वाङ्मय में विपुल विचार उपलब्ध होते हैं। दर्शन के उद्भव में संशय, संदेह को भी एक प्रधान हेतु के रूप में स्वीकार किया गया है। जिज्ञासा का फल ही दार्शनिक सृष्टि है। इस विचित्र रहस्यमयी सृष्टि को देखकर इसके यथार्थ स्वरूप के विषय में स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा का उदय होता है। इसका उद्भव किस तत्त्व से, किस समय, किसके द्वारा और किस प्रकार हुआ, इसका नियन्ता कौन है, इत्यादि विविध प्रकार के संशय उपस्थित होते हैं—

को अद्धा वेद क इह प्रवोच-
त्कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना-
था को वेद यत आबभूव ॥ ऋग्वेद १०।१२९।६

इस दृश्यमान् जगत् में एक अपरिवर्तनशील अद्भुत नियम दृष्टिगोचर होता है। नित्यप्रति परिवर्तन होने पर भी तत्त्वतः वस्तु रहती ही है। प्रकृति के समस्त क्रिया-कलापों में एक विलक्षण, पर अपवादरहित

अवश्यम्भावी नियम की प्राप्ति होती है। रात्रि में सुप्रकाशित नक्षत्र समुदाय के साथ तमस् का निवारण करता हुआ आह्लादक चन्द्रमा नीलाभ नभःपटल पर सुशोभित होता है, पर न जाने दिन होते ही उन नक्षत्र समूहों के साथ वह कहाँ चला जाता है। आकाश में अत्यन्त उन्नत स्थान पर बिना किसी आधार के ये नक्षत्र कैसे स्थापितकिये गये—

**अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद्दिवेयुः।**
**अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥**

ऋग्वेद १।२४।१०

नदियाँ अपने जल से सदैव समुद्र को भरती रहती हैं, फिर भी वह कभी पूर्ण नहीं होता। इस प्रकार वैदिक ऋषि अत्यन्त अबोध भोले भाले बालक के सदृश कौतूहल परिपूर्ण दृष्टि से प्रश्न करता है कि वह कौन सा वन है, उस वन का वह कौन सा वृक्ष है जिसको तरास करके इस द्युलोक तथा पृथिवी लोक का निर्माण किया गया है और इन भुवनों का नियन्ता कौन है—

**किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।**
**मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥**

ऋग्वेद १०।३१।७; तैत्तिरीय सं० ४।६।२।५; वाजसनेयि १७।२०
मैत्रायणी २।१०।२; काठक १८।२ तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।६।६

इस प्रकार की जिज्ञासा वैदिक साहित्य में प्राप्त होती है। ऋषियों ने अपनी तपस्या, गहन साधना द्वारा अपने प्रातिभ चक्षु की सहायता से इन सत्यों, रहस्यों का साक्षात्कार किया और इस प्रकार उन जिज्ञासाओं के समाधान का श्लाघनीय प्रयास किया। ब्रह्म ही वह वन है तथा ब्रह्म ही उस वन का वह वृक्ष है जिसको तरास करके द्युलोक तथा पृथिवी लोक की रचना की गई तथा यही ब्रह्म समस्त भुवनों का नियमन करता हुआ अधिष्ठाता के रूप में स्थित है—

ब्रह्म वनं स ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।
तैत्तिरीय ब्राह्मण २।८।६।६

यही साक्षात्कृत यथार्थभूत अवितथ ज्ञान की राशि ही वेद हैं जो सकल कलुष विनिर्मुक्त हैं। अतः वेद पुरुषार्थ की सिद्धि में अन्यतम साधन हैं। लौकिक अभ्युदय एवं परम पुरुषार्थ रूप अपवर्ग दोनों ही प्रयोजनों को वेद संपन्न करने वाले हैं—

'विदन्त्येभिर्धर्मब्रह्मणी क्रियाज्ञानमयं ब्रह्म वेति वेदः ।'
'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते धर्मादिपुरुषार्था वैभिरिति वेदाः।'

इस वेदज्ञान के आलोक के विना आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान सरल नहीं है और इस आत्मस्वरूपदर्शन अथवा ब्रह्मज्ञान के विना सर्वदुःखविनिवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति भी संभव नहीं है। अतः वेदज्ञान अत्यन्त उपयोगी है—

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।
श्वेताश्व० ३।८ सद

तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति ।

इस प्रकार वेदों में दार्शनिक तत्त्वों का निरूपण पर्याप्त मात्रा में किया गया है और समस्त भारतीय आस्तिक दर्शनों का मूल इन्हीं वेदों में ही मिलता है। एक ही ब्रह्म इस जगत् का उपादान कारण तथा निमित्त कारण भी है। स्वयं वह अपने में से ही इस जगत् का आविर्भाव करता है तथा पुनः इसका अधिष्ठाता बन जाता है। हिरण्यगर्भ, पुरुष, प्रजापति को जगत् के अधिष्ठातृत्व के रूप में ही स्वीकार किया गया है। यह पुरुष त्रैकालिक सत्य है। विभु, व्यापक, अन्तर्यामी रूप से वही सर्वत्र अनुस्यूत एवं ओतप्रोत है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।

ऋग्वेद १०।९०।२

साथ ही यह पुरुष इस सृष्टि से परे भी है। अपनी महिमा से इसका अतिक्रमण करके स्थित है। इसका स्वरूप अनिर्वचनीय है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।।

ऋग्वेद १०।९०।१

नासदीय सूक्त में जगत् की अव्यक्त अवस्था का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। सृष्टि की प्राक् दशा में न तो सत् था और न असत् ही। न तो मृत्यु थी और न अमरत्व की ही स्थिति। रात्रि तथा दिन में भेद भी न था। तथापि इस दशा में भी एक तत्त्व स्वसामर्थ्य से, बिना वायु के सहारे ही श्वास ले रहा था—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो न व्योमा परो यत् ।

ऋग्वेद १०।१२९।१ अर्ध

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ।।

ऋग्वेद १०।१२९।२

इसी एक तत्त्व को विविध संज्ञाओं से संबोधित किया गया है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुड, मातरिश्वन् इत्यादि देव उसी के रूप हैं। अनेक रूपों में वही अभिव्यक्त हुआ है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।

ऋग्वेद १।१६४।४६

शुक्लयजुर्वेद में भी इसी तत्त्व का निरूपण अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः प्रजापति इत्यादि रूपों में किया गया है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

शुक्लयजुर्वेद ३२।१

'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति' तथा 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति माया कृण्वानः' रूप से सर्वत्र यही व्याप्त है। यही तत्त्व ऋत, दिव्य, शाश्वत नियम का नियामक है। द्वादश अरों वाला ऋत का यह चक्र अप्रतिहत निर्बाध गति से सदैव गमन करता ही रहता है। इस गति में कभी भी विराम की स्थिति नहीं उपस्थित होती। इसके गतिशील रहने पर ही समस्त व्यापार चलते रहते हैं। इसी में सभी भुवन निवास करते हैं—

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।

ऋ० १।१६४।११ अव

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।

ऋ० १।१६४।१३ अव

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः ।

ऋ० १।१६४।२ सद

इसी प्रकार आत्मा तथा ब्रह्म के परस्पर संबन्ध को बहुत ही मनोरम रूप में प्रस्तुत किया गयाहै। दोनों ही शोभन पर्णों से युक्त पक्षी के समान हैं जो एक ही वृक्ष की समान शाखा पर आसीन हैं। इनमें से एक मधुर स्वादु युक्त फल के रस को ग्रहण कर रहा हैं तथा द्वितीय पक्षी रस पान की अभिलाषा से रहित होकर निर्लिप्त भाव से केवल

दूसरे फल-भोक्ता पक्षी को देख रहा है। इसका अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार उन पक्षियों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म तथा जीव में भी मूलतः स्वरूपगत भेद नहीं है। ब्रह्म असङ्ग साक्षात्द्रष्टा है तथा आत्मा विविध प्रकार के फलों का उपभोग करने वाला है और यही फलभोग उस आत्मा का बन्धन है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

ऋग्वेद १।१६४।२०; अथर्व० ६।९।२०
मुण्डक० ३।१।१; श्वेताश्व० ४।६

इन्हीं रहस्यों का निरूपण अथर्ववेदीय स्कम्भ एवं उच्छिष्ट सूक्तों में किया गया है। वेदों में एक तत्त्व का वर्णन अनेक रूपों में किया गया है, इसका समर्थन आचार्य यास्क भी अपने निरुक्त में इस प्रकार करते हैं—

'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।'
'एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति'॥

निरुक्त ७।१

ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मकाण्ड को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। सोमयाग, महाव्रत, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, इत्यादि अनेक प्रकार के यज्ञीय अनुष्ठानों का प्रतिपादन इनमें किया गया है। 'यज्ञो वै विष्णुः, यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' रूप से यज्ञों के महत्त्व की अभिव्यक्ति की गई है। यज्ञ द्वारा ही दुःखनिवृत्ति संभव है, यह सिद्धान्त इनमें स्थापित किया गया है—'अपाम सोमममृता अभूम, अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'। सोमयाग से देवत्व की प्राप्ति तथा वाजपेययाग से ऐन्द्र पद की प्राप्ति होती है। इस रूप से यज्ञसंपादन

की प्रेरणा द्वारा कर्म के महत्त्व को इन ब्राह्मण ग्रन्थों में बतलाया गया है।

आरण्यक ग्रन्थों में मुख्य रूप से यज्ञीय अनुष्ठानों की मीमांसा की गई है। कर्म द्वारा प्राप्त फल सदैव क्षयिष्णु होता है। इसलिये यज्ञानुष्ठान से मिलने वाला स्वर्गरूप फल आत्यन्तिक नहीं है। अतः कर्मकाण्ड नित्य क्षयरहित सुख के संपादक नहीं हैं। इसके परिणाम स्वरूप मानव मन उपासना, ज्ञानोपलब्धि की ओर उन्मुख हुआ। इन आरण्यकों में उपासना, मनन, चिन्तन की ही प्रधानता है और इसीलिये इनके पठन का स्थान नगर के कोलाहल से दूर अरण्य का परम पावन एकान्त शान्त वातारण ही उपयुक्त समझा गया। अरण्य में अध्ययन किये जाने के कारण ही इनकी सज्ञा आरण्यक है —

'अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीयते'

संहिताओं में निर्दिष्ट आध्यात्मिक विचारों का पल्लवन इन आरण्यक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। कालविद्या एवं प्राणविद्या का इनमें पर्याप्त मनन किया गया है। अक्षय स्रोत से उद्भूत नदी की तरह यह काल सदा गतिशील ही रहता है। इसकी अविच्छिन्न, अप्रतिहत गति में कभी भी विराम की स्थिति नहीं उपस्थित होती —

नदीव प्रभवात्काचिदक्षय्यात्स्यन्दते यथा।
तां नद्योऽभिसमायान्ति सोरुः सती न निवर्तते॥

तैत्तिरीय० १।२

प्राण द्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त है। यह आकाश प्राण के सामर्थ्य से ही सुप्रतिष्ठित है—

'सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्'

'सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः

प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतानि आ-
पिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्'-

ऐतरेय० २।१।६

जब तक इस शरीर में प्राण विद्यमान है तभी तक आयु है—

'यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः'

कौषितकि० १२

इस प्रकार संपूर्ण सृष्टि प्राणरूपा ही है—

'सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः एकैव व्याहृतिः।
प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्'॥

ऐतरेय० २।२।१०

इस रूप से अध्यात्म-विद्या का सुन्दर चित्रण इन आरण्यक ग्रन्थों में किया गया है।

## उपनिषद्

❀

भारतीय धर्म एवं दर्शन में उपनिषद् साहित्य का अत्यन्त गौरवमय स्थान है। वैदिक वाङ्मय के अन्तिम भाग में स्थित होने के कारण इनकी संज्ञा वेदान्त भी है। वेद का अर्थ है ज्ञान और उस ज्ञान का परम प्रकर्ष, चूडान्त स्वरूप उपनिषद् में उपलब्ध होता हैं। इसलिये इनका 'वेदान्त' अभिधान सार्थक ही है। वैदिक संहिताओं में उद्भूत हुई अध्यात्म भावना क्रमशः पल्लवित पुष्पित होती हुई इन उपनिषदों में ज्ञान के मधुर माङ्गलिक फल के रूप में विकास की पराकाष्ठा को प्राप्त करती है। अतः इन उपनिषदों की पराविद्या, ब्रह्मविद्या, अध्यात्मविद्या, रहस्यविद्या इत्यादि रूप से प्रसिद्धि है—

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते–मुण्डक १।१।५
सब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह–
मुण्डक १।१।१

श्रीमद्भगवद्गीता में अध्यात्मविद्या को सभी विद्याओं में सर्वोत्तम स्वीकार किया गया है—

अध्यात्मविद्या विद्यानाम्–गीता १०।३२ स

इसी विद्या की प्रशस्ति आन्वीक्षिकीविद्या के रूप में अर्थशास्त्र में की गई है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥
अर्थशास्त्र १।२

भगवान् मनु ने भी आत्मज्ञान का निरूपण सर्वोत्कृष्ट रूप में किया है—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
मनु० १२।८५

इस प्रकार यह उपनिषद् साहित्य वह आध्यात्मिक मानसरोवर है जिससे ज्ञान की विभिन्न सरितायें समुद्भूत होकर इस पुण्य भूमि भारत में मानव मात्र के ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मङ्गल के लिये प्रवाहित होती हैं। इस देश में उदय होने वाले समस्त दर्शनों के मूल स्रोत यही उपनिषद् हैं। जैन तथा बौद्ध दर्शनों के मौलिक तथ्यों के, सत्य-अहिंसा-अस्तेय-अपरिग्रह-सदाचार इत्यादि मूलभूत सिद्धान्तों के भी यही आधार हैं। इनके अनुशीलन परिशीलन से भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक स्वरूप की तात्त्विक झाँकी मिलती है। भारतीय प्रज्ञा के अति समुन्नत स्वरूप की इनमें उपलब्धि होती है। इसीलिये वैदिक

धर्म की मूल तत्त्व-प्रतिपादिका 'प्रस्थानत्रयी' में उपनिषद् का स्थान सर्वप्रथम है। ज्ञान का परिपूर्ण भाण्डार होने के कारण 'ज्ञानकाण्ड' रूप से इनकी विश्रुति है। परम पुरुषार्थ अपवर्ग की प्राप्ति में अनेक साधनों का निरूपण किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म को तथा आरण्यक ग्रन्थों में उपासना को साधन बतलाया गया है। पर 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इस सिद्धान्त के अनुसार इन उपनिषदों में ज्ञान पर ही बल दिया गया है। ज्ञान द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति संभव है। अतः इनमें ईश्वर-जीव-जगत्, ब्रह्म-आत्मा, अविद्या-प्रकृति इत्यादि प्रमेयों के यथार्थ स्वरूप का सविस्तर विवेचन किया गया है।

## उपनिषद् शब्द का अर्थ

❀

उपनिषद् शब्द की निष्पत्ति 'विशरण-गति-अवसादन' अर्थ वाली √सद्लृ धातु से होती है--'सद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु'। इस विद्या के अनुशीलन से मुमुक्षु जनों की संसारबीजभूता अविद्या नष्ट हो जाती है (विशरण), वह साधक को ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है (गति) तथा इसके द्वारा सांसारिक दुःख शिथिल हो जाते हैं (अवसादन)। साथ ही गुरु के समीप विनम्रता पूर्वक बैठ करके, उनको प्रसन्न करके प्राप्त किया गया रहस्यज्ञान ही उपनिषद् है (उप+नि+√सद्+क्विप्)। यद्यपि उपनिषद् मुख्य रूप से ब्रह्मविद्या के ही द्योतक हैं तथापि गौण रूप से इस विद्या के प्रतिपादक साहित्यविशेष के लिये भी इस 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

## प्रतिपाद्य विषय

❀

रहस्यात्मक एवं आध्यात्मिक ज्ञान की विमल राशि ही उपनिषद् हैं। ईश्वर-जीव-जगत्, आत्मा-परमात्मा, पुरुष-प्रकृति, विद्या-अविद्या

माया इत्यादि विषयों का विशद विवेचन करके मानव जिज्ञासा को ये संतृप्त करते हैं। प्रधान रूप से इन उपनिषदों में सर्वेश्वर-वाद की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और वे आत्मा-परमात्मा के एकत्व तथा जगत् के साथ इनके संबन्ध का प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्म ही एक मात्र सत् नित्य तत्त्व है, जीव इसी का अंश है और जगत् का भी विकास इसी से होता है जो तत्त्वतः मिथ्या ही है – 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' प्रायः यह अधिक मान्य सिद्धान्त है। यह ब्रह्म सच्चिदानन्दमय, सत्-चित्-आनन्द रूप, अनन्त है –

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म – तैत्तिरीय० २।१

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—बृहदा० ३।६।२८

ब्रह्म के स्वरूप के वाचक 'सत्-चित्-आनन्द' इन त्रिविध शब्दों का अत्यधिक महत्त्व है। सत् का अभिप्राय है – ब्रह्म त्रैकालिक सत्य है। किसी भी काल और किसी भी देश में इसका अभाव नहीं है। चित् शब्द के द्वारा ब्रह्म में चेतनत्व तथा निरतिशय ज्ञान का अभि-व्यक्ति होती है। ब्रह्म में दुःख का सर्वथा अभाव है, इसके साथ उसका लेशमात्र भी संबन्ध नहीं है। इसी का द्योतक आनन्द शब्द है। साथ ही 'सत्-चित्-आनन्द' ब्रह्म के त्रिविध गुण नहीं है, अपितु सच्चिदानन्द उसका स्वरूप ही है। जो सत् है, वही चित् एवं आनन्द है। इनमें कोई भेद नहीं है। वह ब्रह्म सत्य का भी सत्य है –

तत्सत्यस्य सत्यम्—बृहदा० २।१।२०

यह ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी समस्तदोषविवर्जित है—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।

श्वेता० ६।१९ अव

यह शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरहित, अव्यय, अपरिणामी, अनादि, अनन्त, महान् से भी महत्तर एवं कूटस्थ है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।

कठ० १।३।१५

यह ब्रह्म महान्, दिव्य, अचिन्त्य स्वरूप वाला सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, दूरस्थ निकटस्थ, सर्वत्र विभु रूप से विद्यमान है—

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥

मुण्डक० ३।१।७

वह इन्द्रियातीत है, अगम्य है । विशुद्ध ज्ञान द्वारा उसके स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

मुण्डक० ३।१।८ सद

सभी जीव ब्रह्म के ही रूप हैं । अतः तद्रूप होने के कारण आत्मा का भी यथार्थ स्वरूप तत्सदृश ही है । इसलिये 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि—'छान्दोग्य० ६।८।७; 'अहं ब्रह्मास्मि'; 'अहमात्मा ब्रह्म' बृहदा०२।५।१ इत्यादि महावाक्य सत्य ही हैं । इस प्रकार आत्मा भी सच्चिदानन्दमय अनादि अज नित्य विनाशरहित शाश्वत है । शरीर के विनाश होने पर इसका विनाश नहीं होता—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽय पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

कठ० १।२।१८

ब्रह्म की भाँति यह आत्मा भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तथा महान् से महत्तर है। सभी शरीरों में अशरीरी होकर अधिष्ठाता के रूप में यह स्थित है–

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

कठ० १।२।२० अव

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

कठ० १।२।२१

यह आत्मा सभी प्रकार के दोषों से रहित है। जिस प्रकार प्रकाशमान् सूर्य द्रष्टा पुरुषों के चक्षुदोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा भी सभी दोषों से असंपृक्त है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

कठ० -।२।११

इस आत्मतत्त्व से भिन्न कोई भी अन्य वस्तु किसी भी देश, किसी भी काल में स्थित नहीं है। सर्वत्र वही व्याप्त है—

न हि आत्मनोऽन्यत्तत्प्रविभक्तदेशकालं सूक्ष्मव्यवहितं भूतं भविष्यद्वा वस्तु विद्यते—शंकर ।

अतः आत्मस्वरूप उपलब्धि के लिये ऋषियों तथा शास्त्रों की प्रवृत्ति देखी जाती है तथा इसके साक्षात्कार के लिये उपदेश दिये गये हैं—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि' बृहदा० २।४।५

सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः — छान्दोग्य ८।७।१

तथा इस स्वरूपदर्शन के होते ही अन्य समस्त पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान का सहज ही हो जाता है —

आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितं भवति—बृहदा० २।४।५

येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति
छान्दोग्य० ६।१।३

आत्मस्वरूप दर्शन हो जाने पर कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता। गीता में भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।
गीता ७।२ सद

स्वरूप उपलब्धि ही मोक्ष है। आत्मसाक्षात्कार द्वारा पुरुष अपने जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है —

स मोदते मोदनीय हि लब्ध्वा —कठ० १।२।१३ स
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति—कठ० १।२।१२ द
मत्वा धीरो न शोचति—कठ० १।२।२२ द; २।१।४ सद
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति—कैवल्य० ६

आत्मा एवं परमात्मा में एकत्व का दर्शन करने वाले के लिये मोह शोक का सर्वथा अभाव हो जाता है —

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।

ईश० ७ सद

किंतु नानात्व का, भेद का दर्शन करने वाला मनुष्य सदा बन्धन में रहता है। आत्मतत्त्व का दर्शन होते ही सभी बन्धन समाप्त हो जाते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

मुण्डक २।२।८

ब्रह्म को जानने वाला पुरुष स्वयं भी ब्रह्मरूप हो जाता है। क्योंकि मूलतः वह ब्रह्मरूप ही है। केवल अज्ञान के कारण ही भेद की प्रतीति होती है—

ब्रह्मविदाप्नोति परम्—तैत्तिरीय० २।१
स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति....
विमुक्तोऽमृतो भवति— मुण्डक० ३।२।६

इस प्रकार एक ही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक रूप से स्थित है। समस्त जगत् उसी का रूप है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

ईश० १ अव

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।

छान्दोग्य ३।१४।१

सभी पुरुषों में यही एक ब्रह्म आत्मा रूप में अवस्थित है। यही ब्रह्म आदित्य में भी स्थित है—

यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।

तैत्तिरीय० २।८

विशुद्ध परम धाम में रहने वाला यही स्वयंप्रकाश परब्रह्म है, अन्तरिक्ष में विचरण करने वाला यही वसु है, सभी गृहों में उपस्थित होने वाला अतिथि है। यही अग्नि, होता तथा मनुष्यों, देवों, सत्य में रहने वाला तत्त्व है। यही तत्त्व अनेक चेतन-अचेतन पदार्थों के रूप में प्रकट हुआ है—

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षस-
होता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥

कठ० २।२।२

सृष्टि की रचना करके यह ब्रह्म उसी में प्रविष्ट हो जाता है – 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तैत्तिरीय० २।६ और इस प्रकार यही ब्रह्म जगत् का उपादान कारण तथा निमित्त कारण भी है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्॥

मुण्डक० १।१।७

अतः यह ब्रह्म संपूर्ण संसार का अधिष्ठाता है—

यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।

श्वेता० १।३ सद

तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।

कठ० २।२।८ द

अतः इस रहस्य को जानने वाला पुरुष अविद्या के बन्धन से मुक्त हो जाता है और अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है—

अनाद्यनन्त कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
श्वेता० ५।१३

एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह ।
मुण्डक० २।१।१०

इसीलिये अध्यात्मज्ञान की प्रभूत प्रशंसा की गई है और इसी की प्राप्ति के लिये प्रेरित किया गया है तथा भौतिक उत्कर्ष को तुच्छ, हेय, महत्त्वहीन बतलाया गया—

सा होवाच मैत्रेयी किमहं तेन कुर्यां येनाहं नामृता स्याम् ।
बृहदा० ४।५।४

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः—कठ० १।१।२७ अ

इस प्रकार वैदिक साहित्य में मुख्य रूप से उपनिषदों में दार्शनिक तत्त्वों का अत्यन्त विशद विवेचन किया गया है और ये उपनिषद् ही वास्तविक दृष्टि से भारतीय दर्शनों के उद्‌गम स्रोत हैं।

# सांख्यदर्शन

भारतीय दर्शनों में सांख्य अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इसका बहुत ही महनीय एवं गौरवपूर्ण स्थान है। तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञानमीमांसा दोनों ही क्षेत्र में इसकी महत्त्वपूर्ण देन है। परंपरया इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं—

**सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते।**

मत्स्य० ४।२८

सांख्यसिद्धान्त द्वैतवादी है। मुख्य रूप से प्रकृति तथा पुरुष दो ही मौलिक तत्त्व इसको अभिमत हैं। दोनों ही अनादि नित्य कारण रहित एव स्वतन्त्र हैं। प्रकृति अचेतन तथा पुरुष चेतन है। प्रकृति एक तथा पुरुष अनेक हैं। यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका सत्त्वरजस्तमो रूपा सततपरिणामिनी तथा प्रसवधर्मिणी है। किंतु पुरुष त्रिगुणातीत, सुखदुःखमोहरहित अपरिणामी निष्क्रिय अकर्ता निर्विकारी पुष्कर-पत्रवत् निर्लिप्त असङ्ग उदासीन अविचल कूटस्थ नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव वाला साक्षी द्रष्टा एवं चिन्मात्र है। इसी पुरुष के साथ संयोग को प्राप्त कर अचेतन, पर परिणामिनी प्रकृति महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्र क्रम से समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति करती है। पङ्गु एवं अन्धे के सदृश इन दोनों का संयोग होता है। पर इस संयोग में हेतु अनादि अविद्या ही है—

**पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः—सां० का० २१सद्**

अतः अविद्या ही सकल अनर्थों का कारण है। जब तक अज्ञान की स्थिति है तब तक संसार की स्थिति बनी रहती है। प्रकृति-पुरुष के परस्पर विभेद को न जानने के कारण इस दुःखमय जगत् की सत्ता है। स्वरूपतः निष्क्रिय अकर्ता होने पर भी पुरुष अनेक प्रकार के

शुभाशुभ कर्मों का करने वाला बनता है। सुखदुःख से रहित होने पर भी विविध प्रकार के फलों का भोक्ता बनता है। नित्य शुद्ध बुद्ध यही पुरुष रागद्वेष इत्यादि भावनाओं से कलुषित तथा अज्ञानी हो जाता है। स्वभावतः नित्य मुक्त होने पर भी बन्धनगत होता है। जन्म मृत्यु से रहित अपरिणामी होने पर भी जन्ममृत्यु के चक्र में संसरण करता है और अपने को बँधा हुआ अनुभव करता है। आचार्य शंकर ने भी मिथ्याज्ञान को इस लोकव्यवहार का कारण बतलाया है—

मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः—

ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, उपोद्घात

श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है और अहंकार, अज्ञान को ही पुरुष के बन्धन का कारण बतलाया गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

गीता ३।२७

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

गीता १३।११, २९

अतः इस अनर्थकारी अज्ञान का निराकरण अत्यन्त आवश्यक है। विशुद्ध ज्ञान की उपलब्धि होते ही दुःख की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति हो जाती है। अतः प्रकृतिपुरुषविवेकख्याति, सत्त्वपुरुषान्य-

ताख्याति, व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ भेद प्रतीति ही दुःखनिवृत्ति में प्रधान हेतु है। विवेकज्ञान कारण हैं तथा इससे सिद्ध होने वाला दुःख का आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक अभाव कार्य अथवा फल है।

'ऋते ज्ञान न्न मुक्तिः' यह सिद्धान्त सांख्य को अभिमत है। परमपुरुषार्थरूप अपवर्ग में हेतु होने के कारण ही इस दर्शन में प्रकृति-पुरुषान्यताख्याति अथवा व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञान का ही इसमें सर्वाधिक महत्त्व हैं और इसकी प्राप्ति के लिये ही इसकी प्रवृत्ति होती है। इसीलिये सांख्य के ज्ञान की अन्यत्र प्रशंसा की गई है तथा इसके ज्ञान को उत्तम कहा गया है—

ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित् ।
सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् ।।

महाभारत । शान्ति ।

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् ।
तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ ।।

महाभारत । शान्ति ।

पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते ।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम् ।।

महाभारत ।शान्ति । २७५।३८

सांख्या राजन् महाप्राज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम् ।
ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ।।

महा०।शान्ति।

अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम् ।
अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।।

महा०।शान्ति।

सर्वमव्यक्तमित्युक्तमसर्वः पञ्चविंशकः ।
य एनमभिजानन्ति न भयं तेषु विद्यते ॥
महा० शान्ति ३०६।५०

यदा तु बुध्यतेऽऽत्मानं तदा भवति केवलः ।
सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः ॥
महा०।३०६।५५

सांख्यं तु मोक्षदर्शनम्—महा० । शान्ति ।
अब्रवीत्परमं मोक्षं यत्तत्सांख्येऽभिधीयते ॥
महा०।शान्ति

सांख्ययोगौ तौ यावुक्तौ मुनिभिर्मोक्षदर्शिभिः—
महा० । शान्ति

मोक्षमध्यापयामास सांख्यज्ञानमनुत्तमम्—
महा०।आदि।

नहिं ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते—
गीता४।३८ अव

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति—
गीता४।३९ सद

पञ्चविंशति तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः॥
सं० सि० सं०

ज्ञानेन मुक्तिं कपिलो योगेनाह पतञ्जलिः ।
योगी कपिलपक्षोक्तं तत्त्वज्ञानमपेक्षते ॥
सं० सि० सं०

द्विविधं निःश्रेयसं सांख्ययोगाविति—देवलवचनम्
सांख्यं योगं च समभ्यसेत्पुरुषं वा पञ्चविंशकम्-निरुक्त
संसारमनादृत्य सांख्यज्ञानं समाश्रित्य ... अणिमाद्यैश्वर्य-प्रापणम्—वैखानसधर्मप्रश्न
सांख्याश्चाध्यात्मतत्त्वज्ञाः—

बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति

शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते—

व्यासस्मृति

इस प्रकार आत्मस्वरूप दर्शन तथा अपवर्ग प्रदान करने वाले सांख्य ज्ञान की प्रभूत प्रशंसा की गई है। और इस रूप से सांख्य-दर्शन के महत्त्व पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

आध्यात्मिक—आधिभौतिक-आधिदैविक त्रिविध दु.खों के निरास के लिये ही सांख्य दर्शन की प्रवृत्ति होती है। इसकी स्पष्ट प्रतीति प्रथम सांख्यकारिका तथा प्रथम सांख्यसूत्र से ही हो जाती है। इन दुःखों के निराकरण में लौकिक तथा आनुश्रविक उपाय सर्वथा उप-युक्त नहीं हैं। सांख्यशास्त्र प्रतिपादित व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ का विज्ञान ही इस उद्देश्य की सिद्धि में उत्कृष्टतम उपाय है। इसी लिये सांख्य व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ के यथार्थ स्वरूप का विवेचन करता है। ज्ञ तो स्वभावतः समस्त दुःख, बन्धन से विरहित है। उसका बन्धन, संसरण, मोक्ष तत्त्वतः कुछ भी नहीं होता। किंतु प्रकृति का ही बन्धन एवं मोक्ष होता है—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥

सांख्यकारिका ६२

निर्गुणमथ एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः ।
दुःखाज्ञानमया धर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः ॥

विष्णुपुराण ६।७।२२

इसलिये सांख्य दर्शन के तत्त्वज्ञान तथा चिन्तन का स्वरूप 'अहमिदम् ममेदम्' न होकर सदैव 'नास्मि, न मे, नाहम्' रूप में होता है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥

सांख्यकारिका ६४

क्योंकि द्रष्टा-दृश्य का संयोग ही समस्त क्लेशों का कारण है !

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः—योगसूत्र २।१७

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता—

योगसूत्र २।६

इस तरह प्रकृति के साथ पुरुष का अविद्या जन्य संबन्ध ही दुःख का कारण है । अतः इन दोनों की पृथक् स्थिति से ही दुःख का ऐकांतिक एवं आत्यन्तिक अभाव संभव है । इसीलिये योगशास्त्र में प्रकृति तथा पुरुष की समान शुद्धता को ही कैवल्य कहा गया है—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् —

योगसूत्र ३।५५

'ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः

सांख्यकारिका ४४ सद

व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्—सां०का० २ द,

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः—योगसूत्र २।२६

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः—योगसूत्र ४।२५

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः—सांख्यसूत्र ६।७०
विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरात्—
सांख्यसूत्र ३।३८

अतः विकारसहित प्रकृति तथा पुरुष के स्वरूप के सम्यक् ज्ञान, विवेक-ख्याति से दुःख की निवृत्ति संभव है और अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर पुरुष कैवल्य को प्राप्त कर लेता है।

सांख्यसम्मतप्रकृति एक नित्य स्वतः एव सततपरिणामिनी है। जगत् का अधिष्ठाता ईश्वर नामक तत्त्व सांख्य को अभीष्ट नहीं है। प्रकृति स्वयं ही प्रलयकाल में सरूप तथा सृष्टिकाल में विरूप परिणाम को प्राप्त करती रहती है। निखिल जगत् का उपादान कारण वही है। पुरुष के अपवर्ग हेतु उसकी प्रवृत्ति निःस्वार्थ, अहेतुकी होती है द्रष्टव्य सांख्यकारिका ५६, ५७, ५८, ६०, ६३। साथ ही सांख्यदर्शन का इस दिशा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान है कि जहाँ पर न्याय-वैशेषिक-जैन इत्यादि दर्शनों में अनेक पदार्थों, प्रमेयों की सत्ता स्वीकार की गई है वहाँ पर सांख्य सभी प्रमेयों का केवल प्रकृति-पुरुष दो ही तत्त्वों में उपसंहार करता है तथा आत्मतत्त्व का अत्यन्त सूक्ष्म, गहन विवेचन प्रस्तुत करता है जो वेदान्त को छोड़कर सर्वोत्तम है। इसके साथ ही सांख्यसिद्धांत मूलकारण प्रकृति के एकत्व तथा पुरुष, आत्मा के अनेकत्व का प्रतिपादन करता है। सांख्य सत्कार्यवाद का समर्थक है। आविर्भाव से पूर्व कार्य अपने कारण में सद् रूप से विद्यमान रहता है। अद्वैतवेदान्त के विवर्तवाद से भिन्न सांख्य परिणाम-वाद को स्वीकार करता है। इसके अनुसार सभी कार्य सत् हैं। केवल उनका अपने कारण में तिरोभाव होता है, अभाव नहीं।

इस प्रकार सांख्य को एक उत्कृष्ट दर्शन कहना चाहिए जो मानव जीवन के चरम पुरुषार्थ अपवर्ग सिद्धि में अत्यधिक उपयोगी होकर स्वयं अपने ही दर्शनत्व को चरितार्थ करता है।

## सांख्यसंज्ञा

❀

प्रस्तुत दर्शन की 'सांख्यसंज्ञा' होने में अनेक हेतु उपस्थित किये जाते हैं। सबसे सामान्य सिद्धान्त यही है कि यह शास्त्र पुरुष-प्रकृति-महत्तत्त्व-अहंकार इत्यादि पञ्चविंशति तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करता है। अतः तत्त्वगणना के आधार पर पञ्चविंशति संख्यात्मक इस शास्त्र ने 'सांख्य' रूप से प्रसिद्धि प्राप्त की। महाभारत में गणनार्थक संख्या शब्द से 'सांख्य' की निष्पत्ति स्वीकार की गई है जिसमें तत्त्वों की संख्या का निर्धारण करने वाले शास्त्र को सांख्य संज्ञा प्रदान की गई है—

सांख्यं प्रकुरुते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः ॥

महा०।शान्ति।२६४। ४१ उद ४२ अब

इस स्थल पर केवल २४ तत्त्वों का ही कथन किया गया है। किन्तु अन्यत्र महा ।शान्ति। २६४।५६; २६५।४५ में २५ तत्त्वों का निरूपण है।

कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया। भागवत ३। ५।१ के भाष्य में श्रीधर स्वामी ने 'तत्त्व संख्यान' को 'तत्त्वगणना तथा तत्त्वगणक' कहाहै –

तत्त्वानां संख्याता गणकः सांख्यप्रवर्तक इत्यर्थः ३।२५।१

श्रीमद्भगवद्गीता १८।१३ में प्रयुक्त सांख्य शब्द की व्याख्या पं० मधुसूदन ने इस प्रकार की है –

पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्तेऽस्मिन्निति सांख्यम्

इस विषय में पाश्चात्य विद्वान् गार्वे का भी यही विचार है—

Garbe is of opinion that the word Sankhya was originally used in the sense of counting and it was then applied to the system of Kapil which enumerates 25 principle.

Sankhya Tattva Kaumudi—
Introduction By Dr Har dutt Sharma p. 2

मत्स्यपुराण ४।२८ भी इसी का समर्थन करता है कि जिस शास्त्र में तत्त्वों की संख्या, गणना का निर्धारण किया गया है, उसे सांख्य नाम देना उचित ही है—

सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते।

अतः मुख्य रूप से संख्या, गणना से संबन्ध होने के कारण इस शास्त्र की सांख्य संज्ञा है। इस जगत् में जितने भी पदार्थों की स्थिति है, उन सब की संख्या का निरूपण करने के पश्चात् उनके स्वरूप के यथार्थ ज्ञान के लिये युक्तियों की सहायता से क्रम पूर्वक तच्छास्त्रसम्मत सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र के लिये सांख्य नाम का प्रयोग किया जाता है। इसमें चेतन—अचेतन पदार्थों की संख्या का निश्चय किया गया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

सांख्यकारिका ३

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥सां०का० २०

तथा इन तत्त्वों के स्वरूप-कार्य-प्रयोजन इत्यादि का वर्णन किया गया है।

'अध्यवसायो बुद्धिः, अभिमानोऽहंकारः' इत्यादि। इस प्रकार सामान्य रूप से सांख्य की निष्पत्ति गणनार्थक संख्या से है।

इस संख्या शब्द की सिद्धि सम् पूर्वक √चक्षिङ् धातु से अङ् प्रत्यय तथा टाप्' के योग से होती है। इस धातु का √ख्याञ् आदेश हो जाता है जिसका अर्थ है—दर्शन, प्रकथन, प्रकृष्ट सुस्पष्ट कथन, गणना। इस संख्या शब्द के अर्थ शब्दकोश तथा अन्यत्र इस प्रकार दिये गये हैं—

चर्चा संख्या विचारणा—अमरकोशः १-५-३
संख्यैकादौ विचारे च—हेमकोशः
संख्या सम्यगात्मबुद्धिः—मधुसूदन गीता ३।३,५।४
सम्यक् ख्यानं संख्याक्रमत्रैशिष्ट्येन ज्ञानम्—
शब्देन्दुशेखर १४५

इस संख्या पद से 'तस्येदम्' सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय करके सांख्य शब्द की सिद्धि होती है। अतः इस शब्द का मुख्य अर्थ है गणना से संबन्धित, गणना से जानने योग्य, सम्यक् विचार से संबद्ध। √चक्षिङ् धातु के अनेकार्थक होने से सांख्यशब्द का अर्थ इस प्रकार है—

तत्त्वगणना से संवद्ध शास्त्र, बुद्धिपूर्वक तत्त्वस्वरूप निरूपग करने वाला शास्त्र, 'स्व' प्रत्यगात्म, आत्मस्वरूप का सम्यक् ज्ञान, साधु दर्शन कराने वाला शास्त्र, मानव की अध्यात्मप्रवृत्ति का विमर्शात्मक विवेचन करने वाला शास्त्र, दुःखनिवृत्ति के लिये तत्त्वज्ञान, विवेक-ख्याति प्रदान करने वाला शास्त्र।

स्थूल, सूक्ष्म तत्त्वों की संख्यानिर्धारण के साथ-साथ इनके यथार्थ स्वरूप का सम्यक् विचार ही प्रमुख रूप से इस शास्त्र का विवेच्य विषय है। अतएव उसकी 'सांख्यसंज्ञा' समीचीन ही है—

पञ्चविंशतितत्त्वानां संख्याविचारः। तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सांख्य इति पदव्युत्पत्तिः संगच्छते:—

रघुनाथतर्कवागीश

कस्मात् सांख्य इत्युच्यते ? सम्यक् क्रमपूर्वकं ख्यानं कथनं यस्यां सा संख्या क्रमपूर्वा विचारणा। यत्, तामधिकृत्य कृतं तस्मात् सांख्यमित्युच्यते शास्त्रम्—

सांख्यतरङ्गः

संख्या सम्यग्बुद्धिर्वैदिकी तया वर्तन्त इति सांख्यः—

भामती, पृष्ठ ३५४

वैदिकी सम्यग्बुद्धिः संख्या तया सहवर्तत इति सांख्यम्—

न्यायनिर्णय, आनन्दगिरि

महाभारत में सांख्य को परिसंख्यान दर्शन की संज्ञा प्रदान की गई है—यहां पर किसी सिद्धान्त में दोषों तथा गुणों का प्रमाण पूर्वक विचार करने का नाम सांख्य दिया गया है—

सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम्—

शान्ति।२६४।२६ सद

सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानदर्शनम्—

शान्ति।२९४।४१

यहाँ पर किसी सिद्धान्त में दोषों तथा गुणों का प्रमाण पूर्वक विचार करने का नाम सांख्य दिया गया है—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥

महा० शान्ति

अपनी सांख्यकारिका की भूमिका में प्रो० सूर्य नारायण शास्त्री ने सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति सामान्य ज्ञान अथवा तत्त्वगणना से संवद्ध विशिष्ट ज्ञान के वाचक, 'संख्याशब्द से वतलाया है। पुनः शास्त्री जी ने महाभारत। शांति २९४। ४१-४२[1] के आधार पर इस सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलाई है और सांख्य का अर्थ विवेक-ख्याति, प्रकृति पुरुष में भेद प्रतीति स्वीकार किया है—

The aim of the system is to grasp twenty fifth principle ( is the spirit ) as discriminated from the twenty-four, which are material. The discrimination does not amount to treating the material world as illusory ( मिथ्या ), but only to the recognition of the fact that world from no part of the true nature of the self, who is pure spirit The Sankhya teaching seem to lead thus to discrimination of matter from spirit and the abandonment of the viles of the former. It is not unlikely that this discrimination and final abandonment ( परिसंख्यान ) gave its name to the system.

Introduction to Sankhya Karika, p, 9

एक प्रकार श्री शास्त्री जी का सांख्य शब्द से अभिप्राय पुरुष का प्रकृति तथा उसके विकारभूत महत्तत्त्व-अहंकार इत्यादि तत्त्वों से भेद

---

१ सांख्यदर्शनमेतावत्परिसंख्यानदर्शनम् ।
सांख्यं प्रकुरुते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥४१॥
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः ।
सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वः पञ्चविंशकः ॥४२॥

प्रतीति तथा इस विवेकख्याति के अनन्तर पुरुष द्वारा इनका परित्याग है। इसी अर्थ का प्रतिपादन श्वेताश्वतरोपनिषद्[1] तथा सांख्यतत्त्व-कौमुदी[2] के मङ्गलाचरण में किया गया है।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि गणनार्थक तथा ज्ञानार्थक संख्या शब्द से सांख्य की निष्पत्ति है। किंतु प्रथम अर्थ गौण तथा द्वितीय प्रधान है। यह सांख्यसंज्ञा आत्मस्वरूपविषयक सम्यक् ज्ञान, तत्त्वस्वरूप निरूपण के कारण अधिक युक्तिसगत तथा समीचीन प्रतीत हो रही है। क्योंकि अन्यत्र भी पदार्थों, प्रमेयों की संख्या का उल्लेख किया गया है तथा उनके स्वरूप का भी विवेचन किया गया है। अतः केवल गणनार्थक संख्या के आधार पर ही इस शास्त्र की सांख्य संज्ञा स्वीकार करने पर अतिव्याप्ति दोष की प्राप्ति होती है, यद्यपि सांख्य को अधिक प्राचीन दर्शन स्वीकार किया जाता है। अतः एक दर्शन की सांख्य नाम से प्रसिद्धि हो जाने के कारण दूसरे दर्शनों की सांख्य संज्ञा न हुई।

'शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते - शांकरविष्णु-सहस्रनाम के अनुसार इस दर्शन की सांख्य संज्ञा अत्यन्त उपयुक्त ही है। इसमें आत्मा, पुरुष की सिद्धि तथा उसके स्वरूप का बड़ा ही सुन्दर एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया गया है जो वेदान्त को छोड़ कर अन्य सभी दर्शनों से उत्कृष्ट है। साथ ही पुरुष के यथार्थ स्वरूप निरूपण के लिये पुरुष से भिन्न इतर पदार्थों के स्वरूप का भी इसमें सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है तथा दोनों में विद्यमान भेद का प्रदर्शन किया गया है। क्योंकि पुरुष अनादि काल से अविद्या से आच्छादित है। अज्ञानवश सत्त्वरजस्तमो रूपा त्रिगुणात्मिका प्रकृति से

१—अजो ह्येको जुषमाणो ऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य।४।६स

२—अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान् १।सद

संबद्ध शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध आदि विषयों में अभिमान करता हुआ उनका वह उपभोग करता है। यही स्वभावतः बन्धन रहित निर्मुक्त पुरुष का बन्धन है। स्वरूप दर्शन न होने से वह दुःखी, बद्ध होता है और नाना प्रकार की योनियों में संसरण करता है। अतः प्रकृति के साथ अपने विभेद को न जानने के कारण ही इस दुःखमय क्लेश परिपूर्ण जगत् की स्थिति है किंतु प्रकृति तथा उसके समस्त प्रपञ्च से यह पुरुष पृथक् है, यह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाला सर्वज्ञ त्रिगुणातीत सभी दुःखों से रहित है, वह चिन्मात्र है—यह ज्ञान कराना ही सांख्य दर्शन का परम प्रयोजन है। इसी सम्यक् विचार को इस दर्शन में व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति, प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञान कहा गया है। इस सम्यक् ख्याति को प्रदान करना ही इस शास्त्र का उद्देश्य है। इस ज्ञान की उपलब्धि होते ही पुरुष अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर कैवल्य दशा को प्राप्त कर लेता है।

अतः आत्मस्वरूप का सम्यक् दर्शन तथा कैवल्य प्रदान करने के कारण ज्ञानार्थक सख्या शब्द से इस दर्शन की 'सांख्यसंज्ञा' स्वीकार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसीलिये आचार्य पञ्चशिख ने सांख्यदर्शन की प्रशंसा अति उदात्त शब्दों में की है—

**एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्। व्यासभाष्य १।४**

## सांख्यदर्शन का स्रोत

❀

भारतीय दर्शनों में सांख्य बहुत ही प्राचीन दर्शन है तथा अध्यात्म चिन्तन की परंपरा में इसका अति उत्तम स्थान है। बुद्धिवादी परंपरा में सांख्य को सबसे प्राचीन स्वीकार किया जाता है। यद्यपि

वर्तमान सांख्य सिद्धान्त को प्रकृति-पुरुष के नियन्ता के रूप में ईश्वर नामक तत्त्व अभिमत नहीं है, तथापि यह श्रुतियों पर प्रतिष्ठित है। वेदों में स्थित आध्यात्मिक तत्त्वों का विकसित रूप इसमें उपलब्ध होता है। सांख्यसम्मत सिद्धान्तों का प्रचुर रूप में निरूपण उपनिषदों महाभारत, पुराणों इत्यादि में मिलता है। अतः इस संबन्ध में डॉ० कीथ का कथन है कि सांख्य पूर्ण रूपसे वैदिक दर्शन है। इसका विकास उपनिषदों से हुआ है—

'There is every evidence that the system is a natural growth from the philosophy of the Upanishads. We have seen that the Upanishads, in their later period of development beginning with Katha, show traces of the doctrines which we find in the Sankhya, such as the evolution of principles and the drawing up of classes of principles. These Upanishads, however, differ essentially from the Sankhya in the fact that they definitely accept either the doctrine of the absolute in its pure form, as does the Katha, or the doctrine in a theistie form, as does the Shvetashvatara—

Sankhya System p. 59-60

यद्यपि महाभारत तथा पुराणों में यत्र तत्र सांख्य सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। फिर भी सांख्य के मूल सिद्धान्त इनसे अधिक प्राचीन हैं—

**सांख्य की परंपरा महाभारत और भागवत से अत्यन्त प्राचीन है**

डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र ·सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृष्ठ १५

इस दर्शन की प्राचीनता के संबन्ध में प्रो० गार्वे का भी यही मत है-

'सांख्य महाभारत के उद्भव या कम से कम उसके वर्तमान विकसित एवं विशाल रूप ग्रहण करने के पूर्व ही आविर्भूत हुआ होगा। इसी कारण से इस जैसे महत्त्वपूर्ण दर्शन का महाभारत पर अमिट प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक है'—

हिन्दी रूपान्तर Sankhya Philosophy

किंतु उपनिषदों, महाभारत एवं पुराणों में निरूपित सांख्य में ईश्वर तत्त्व की प्रतिष्ठा है। इसके विपरीत ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका में वर्णित सांख्य निरीश्वर है। इसीलिये लोकमान्य पं० बाल गंगाधर तिलक[1] का कथन है कि महाभारत में निरूपित सांख्य सिद्धान्त में वेदान्त मत का मिश्रण है। गीता में उपलब्ध सांख्य के विषय में भी उनका इसी प्रकार का कथन है —

गीता में सांख्यवादियों के द्वैत पर अद्वैत परब्रह्म की छाप लगी हुई है। गीतारहस्य-कापिलसांख्यशास्त्र पृष्ठ १७१

इस प्रकार सांख्यविचारधारा की अति प्राचीनता तथा वर्तमान सांख्य की निरीश्वरवादिता निश्चित होती है।

परंपरया भगवान् कपिल सांख्यदर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।२ स 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे' तथा महाभारत एवं पुराणों में अनेक वार अनेक रूपों में महर्षि कपिल का उल्लेख मिलता है और सांख्यदर्शन के प्रवर्तक के रूप में उनको स्वीकार किया जाता है—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते—

महा० । शान्ति । ३३६ । ६५

---

१—गीतारहस्य-कापिलसांख्यशास्त्र, पृष्ठ १६१

कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः॥

महा० । वन । २२१।२१ नीलकण्ठीसंस्करण

सांख्यदर्शन के वर्तमान स्वरूप का परिचय मुख्य रूप से सांख्यकारिका तथा सांख्यसूत्र से मिलता है। किंतु इनसे पूर्व इस दार्शनिक विचारधारा के अविच्छिन्न प्रवाह की सुन्दर परंपरा प्राप्त होती है। उपनिषदों, महाभारत, पुराणों में तो इसके कुछ विशिष्ट तत्त्व प्रभूत रूप में मिलते ही हैं। साथ ही भारतीयसाहित्य के आदिम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी इसके तत्त्व उपलब्ध होते हैं।

पुरुष-प्रकृति-महत्तत्त्व इत्यादि २५ तत्त्वों का निरूपण सांख्य करता है। सांख्य के यही प्रमेय, प्रतिपाद्य विषय हैं। सांख्यसिद्धान्त में प्रकृति-पुरुष का जैसा स्वरूप है, लगभग वैसा ही इनका प्रतिपादन पुरुष-प्रजापति-हिरण्यगर्भ-नासदीय इत्यादि वेदों के दार्शनिक सूक्तों में मिलता है। यद्यपि इन सूक्तों में प्रमुख रूप से एक ही अद्वयसत्ता का निरूपण अधिक है जो वेदान्तमत के अधिक समीप है तथापि कुछ अंशों में सांख्य से भी समानता प्रतीत होती है। व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ इत्यादि प्रमेयों का विवेचन इनमें मिल जाता है—

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्—

ऋग्वेद १०।१२६।२

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास॥

ऋग्वेद १०।१२६।२

ऋग्वेदीय इस नासदीय सूक्त में सृष्टि की प्राग् दशा अर्थात् अव्यक्तावस्था का निरूपण किया गया है। 'अप्रकेतम्' का यहाँ पर अभिप्राय

अव्यक्त से ही है। इस अवस्था में भी एक तत्त्व बिना किसी के सहारे स्वसामर्थ्य से श्वास ले रहा था। इससे नित्य अज ज्ञ चेतन पुरुष की प्रतीति होती है। किंतु यह तत्त्व सर्वत्र अनुस्यूत तथा एक है जबकि सांख्य में पुरुष बहुत्व की स्थिति है।

विशेष रूप से उपनिषदों में सांख्य सिद्धान्तों का अत्यन्त स्पष्ट एव सविस्तर वर्णन मिलता है। श्वेताश्वतर तथा कठोपनिषद् को सांख्य दर्शन ही कहना उपयुक्त है। इनके अतिरिक्त छान्दोग्य, मुण्डक, बृहदारण्यक इत्यादि उपनिषदों में भी सांख्यसम्मत सिद्धान्तों का दर्शन होता है। किंतु इतना अवश्य ध्यातव्य है कि इन उपनिषदों में निरूपित सांख्य सेश्वर है। प्रकृति-पुरुष नितान्त स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं अपितु इनका नियन्ता कोई अन्य तत्त्व भी है जो सर्वव्यापक, विभु तथा एक ही है।

पुरुष अथवा आत्मा के स्वरूप का सुन्दर प्रतिपादन श्वेता० १।८-१०, कठ० १।२।१८—२२ में किया गया है। अव्यय अक्षर अज नित्य सर्वज्ञ शुद्ध समस्त विकारों से रहित निर्गुण व्यापक, अपरिच्छिन्न निष्क्रिय अकर्ता स्वयंज्योति स्वप्रकाश चेतन इत्यादि रूपों में पुरुष का निरूपण किया गया है—

**निष्कलं निष्क्रिय शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्—**

श्वेता० ६।१६ अब

**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।**
**अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥**

श्वेता० १।६

**अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः—** बृहदा० ४।३।१४

यह पुरुष सर्वदा ज्ञाता स्वरूप सर्वज्ञ एवं अविषय है—

**स वेत्ति वेद्यं न तस्यास्ति वेत्ता—** श्वेता० ३।१९ स

प्रकृति से ही समस्त जगत् की अभिव्यक्ति होती है। वही जगत् का मूल कारण परम अव्यक्त एवं प्रधान है। वह त्रिगुणात्मिका नित्य अनादि है। एक होने पर भी समस्त सरूप प्रजाओं को उत्पन्न करती है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

श्वेता ४।५

इसी प्रकार व्यक्त-अव्यक्त, क्षर-अक्षर, अज्ञ-ज्ञ इत्यादि का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। पुरुष-अव्यक्त महत्तत्त्व-मन-इन्द्रिय इत्यादि तत्त्वों का सुन्दर निरूपण कठोपनिषद् करता है। साथ ही इनमें स्थित परस्पर सूक्ष्म-स्थूल भाव का भी प्रदर्शन करता है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

कठ० १।३।१०-११

प्रस्तुत उदाहरण को वेदान्त[1] के अनुरूप भी स्वीकार किया जाता है। यहाँ पर बुद्धि अथवा महत्तत्त्व से श्रेष्ठ आत्मा को बतलाया गया है। यही आत्मा अविद्या से बद्ध जीवात्मा है। इससे भी परे श्रेष्ठ अव्यक्त है। यही प्रकृति, भगवान् की त्रिगुणात्मिका मायाशक्ति[2] है जिसके

---

१—द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र १।४।१ शांकर-भाष्य

२—त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

वश में सभी जीव हैं। परमात्मा एवं जीवात्मा के बीच में यही अवरोध रूप में स्थित है। भगवत्कृपा से ही इससे मोक्ष मिलता है। इस स्थल पर यह विशेष रूप से दर्शनीय है कि वर्तमान सांख्यसिद्धान्त में पुरुष अथवा आत्मा तथा प्रकृति दोनों ही स्वतंत्र तत्त्व हैं तथा प्रकृति स्वयं ही पुरुष के भोग एवं अपवर्ग दोनों ही प्रयोजनों[1] को संपन्न करती है। किंतु यहाँ पर जीवात्मा पुरुष तथा परमात्मा पुरुष के बीच में यह अव्यक्त तत्त्व बाधा रूप में विद्यमान है। इसीलिये अव्यक्त को महान् आत्मा से श्रेष्ठ कहा गया है। इसी कारण परम पुरुष परमात्मा सभी तत्त्वों के विलय का स्थान बतलाया गया है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

कठ० १।३।१३

अतः प्रस्तुत उदाहरण में सेश्वर सांख्य के सिद्धान्त का निरूपण स्वीकार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीनों गुणों का सुन्दर निरूपण छान्दोग्योपनिषद् में किया गया है—

यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य।

इसी तरह सांख्य अभिमत सत्कार्यवाद का स्वरूप उपनिषदों में मिलता है—

---

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ गीता ७।१२—१४

१—नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति॥

सां० का० ६० एवं ५६—६३

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहु-रसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत । कथमसतः सज्जायेतेति, सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वि-तीयम् ।

छान्दोग्य० ६।२।१-२

सांख्यसिद्धान्त में जीवन्मुक्ति स्वीकार की गई है । व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ के विज्ञान से अर्थात् आत्मस्वरूपदर्शन होते ही जीव समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है । विवेकख्याति से जीव के सभी संचित कर्मों का अभाव हो जाता है, निष्कामकर्मयोग के सम्यक् अनुसरण से क्रियमाण कर्म उसके बन्धन के कारण नहीं बनते । केवल प्रारब्ध कर्मों का ही संवन्ध जीव के साथ रह जाता है । अतः फलभोग द्वारा उनके संक्षय पर्यन्त वह शरीर को धारण करता ही है—

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ।।

सांख्यकारिका ६७

जीवन्मुक्ति के इसी स्वरूप का प्रतिपादन उपनिषद् भी करते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

मुण्डक २। ।८

तरति शोकमात्मवित्—छान्दोग्य० ७।१।३

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति—कैवल्य ९

य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति—कठ० २।३।९ द

हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति—

श्वेता ४।२० सद

इस प्रकार वेदों में अन्य दर्शनों की भाँति सांख्य के मूल सिद्धान्त विद्यमान हैं। अतः सांख्य श्रुतियों पर ही प्रतिष्ठित है। इसी तरह महाभारत, गीता, भागवत, विष्णुपुराण इत्यादि में सांख्य के तत्त्व यत्र तत्र मिलते हैं। महाभारत के शान्ति पर्व तथा महाभारत के ही अंशभूत गीता में विशेष रूप से सांख्य का निरूपण है। गीता में ज्ञान-कर्म-भक्ति रूप रत्नत्रय का अत्यन्त मनोरम समन्वय के रूप में प्रतिपादन किया गया है। ज्ञान द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति संभव है, पर भगवद्भक्ति के अभाव में ज्ञानमार्ग नीरस है। कर्म के विना किसी की भी सिद्धि संभव नहीं है। इस रूप से ज्ञान की महत्ता गीता में स्वीकार की गई है—

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्—

गीता ३.३ सद

'ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः' इस रूप से संपूर्ण गीता को ब्रह्मविद्या कहा गया है।

सांख्यसमस्त २५ तत्त्वों का निरूपण महाभारत में किया गया है —

पञ्चविंश यदेतत्ते प्रोक्तं ब्राह्मणसत्तम—

शान्ति।३०६।५६ अव

पञ्चविंशात्पर तत्त्वं न पश्यति नराधिप।
सांख्यानां तु पर तत्र यथावदनुवर्णितम्॥

शान्ति २६५।४५

प्रकृति को यहाँ पर अव्यक्त, परा कहा गया है। स्वभावतः वह अचेतन है। किंतु ईश्वर से अधिष्ठित होकर वही सृष्टि की अभिव्यक्ति

करती है तथा पुनः अपने में ही उसका संहार कर लेती है। प्रकृति से विकसित होने वाले महत्तत्त्व से लेकर स्थूल महाभूत पृथिवी तक २३ तत्त्व हैं। प्रकृति-महत्तत्त्व-अहंकार तथा पञ्च तन्मात्राओं को प्रकृति तथा शेष षोडश तत्त्वों को विकार कहा गया है।

अव्यक्तं प्रकृतिं प्राहुः पुरुषेति च निर्गुणम्—

महा० । शांति । ३·६ । ३८ अ०

अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव ।
एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यपि ॥

महा० । शांति । ३१४।१२

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्—

गीता ९।१० अ०

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः ।
तस्मान्महत्समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम ॥
अहंकारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम् ।
पञ्चभूतान्यहंकारादाहुः सांख्यानुदर्शिनः ॥
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराश्चापि षोडश ।
पञ्च चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि ॥
एतावदेव तत्त्वानां सांख्यमाहुर्मनीषिणः ।

महा० । शान्ति । २९४ । २७-३० अ०

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोडश ।
अथ सप्त तु व्यक्तानि प्राहुरध्यात्मचिंतकाः ॥

महा० । शान्ति । २९८ । १०

सांख्यकारिका में इसी परंपरा का अनुमोदन किया गया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

सां० का० ३

महाभारत के इस वर्णन में पुरुष को छोड़कर शेष २४ तत्त्वों का कथन है—

चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुति निदर्शनात्—

शान्ति । २९८ । २५ सद

इसी तरह से अनादि अक्षय अव्यय निर्विकार सर्वदर्शी अत्यन्त सूक्ष्म पुरुषतत्त्व का निरूपण महाभारत करता है—

अक्षयं पुरुषं प्राहुः क्षयो ह्यस्य न विद्यते—

शान्ति । २०६।४४ सद

अनादि निधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः ।
केवलं त्वभिमानित्वाद् गुणेषु गुण उच्यते ॥

शान्ति । ३०५ । २८

अगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्—

वन । २८१ । १६ सद

इसके अनुरूप ही विष्णु पुराण (१।२।१५–३१) में व्यक्त-अव्यक्त पुरुष के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन किया गया है । जगत् का मूल कारण ही अव्यक्त है । यही प्रधान है । इसी को अति सूक्ष्म प्रकृति कहा गया है—

अव्यक्तं कारणं यत्तत्प्रधानमृषिसत्तमैः ।
प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ॥

विष्णु । १।२।१९

गीता में शरीर आदि की अपेक्षा इन्द्रियों को श्रेष्ठ तथा इन्द्रियों से परतर मन को कहा गया है। मन की अपेक्षा बुद्धि परा है तथा आत्मा पुरुष परतम, सबसे सूक्ष्म एवं श्रेष्ठ तत्त्व है। गीता की उक्ति सांख्य क मान्य है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

गीता ३।४२

सांख्य अभिमत सत्कार्यवाद का सुन्दर प्रतिपादन गीता में मिलता है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः—

गीता २।१६ अब

सांख्य में सत्त्वपुरुषान्यताख्याति को दुःखनिवृत्ति रूप अपवर्ग में प्रधान साधन माना गया है। विवेक ज्ञान होते ही जीव से संबद्ध संचित कर्मों का विमोचन हो जाता है। इसी का वर्णन महाभारत तथा गीता में भी किया गया है—

यदा तु बुध्यतेऽऽत्मानं तदा भवति केवलः।
सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः॥

महा०। शान्ति। २६४। ४३ सद, ४४ अब

यथधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

गीता ४।३७ एव ४।३२—३९

किंतु ज्ञान के साथ ही साथ गीता में भक्ति, ईश्वरशरणागति को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

गीता १८।६६

इस तरह सांख्यसम्मत सिद्धान्तों का बड़ा ही सुन्दर प्रतिपादन वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, पुराण इत्यादि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में मिलता है। स्पष्ट रूप से इनमें सांख्य तथा इसके प्रवर्तक का भी उल्लेख है—

सांख्ययोगौ मया प्रोक्तौ शास्त्रद्वयनिदर्शनात् ।
यदेव शास्त्रं सांख्योक्तं योगदर्शनमेव तत् ॥

महा० । शान्ति । २९५ । ४२

यदेव योगाः पश्यन्ति सांख्यैस्तदनुगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स विद्वान् ॥

महा० । शान्ति । २९३ । ३०

सांख्यज्ञानं प्रवक्ष्यामि परिसंख्यानदर्शनम्—

महा० । शान्ति । २९४ । २६ अव

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

गीता ५।५

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

गीता ५।४

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् ।

महा० । शान्ति

सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते—

मत्स्य ४।२८

इस प्रकार सांख्यसिद्धान्त की प्राचीनता भी प्रमाणित होती है। साथ ही योगदर्शन का यह समानतन्त्र है, इस पर भी प्रकाश पड़ता है। किंतु सांख्य के स्रोत के सम्बन्ध में यह बहुत ही विचारणीय बात है कि उपनिषदों, महाभारत, पुराणों में जिस सांख्य का प्रतिपादन है, उसमें ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है। वह प्रकृति-पुरुष का अधिष्ठाता, प्रेरक है। यह सेश्वर सांख्य है। इसके प्रतिकूल सांख्य-कारिका में सांख्य का जो स्वरूप मिलता है, वह निरीश्वरवादी है। प्रबल युक्तियों द्वारा ईश्वर तत्त्व का प्रत्याख्यान किया गया है (सांख्य कारिका ५७)। प्रकृति-पुरुष दोनों ही पूर्णतः स्वतंत्र तत्त्व है। प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति पुरुषार्थसिद्धि के लिये होती है। प्रकृति का नियन्ता ईश्वर नहीं है। प्रकृति पुरुष दो ही मूल प्रमेय, प्रतिपाद्य विषय होने के कारण सांख्य द्वैतवादी दर्शन है। इस संबन्ध में डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र का कथन है—

विशुद्ध सांख्य आदि से अन्त तक कट्टर द्वैतवादी है—

सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा—पृष्ठ १४

## सांख्यदर्शन के आचार्य

यद्यपि सांख्यदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त वेदों तथा उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं तथापि इन्हीं सिद्धान्तों को एक दर्शनविशेष के रूप में सुसंबद्ध करने तथा उसका प्रवर्तन करने के लिए किसी आचार्य का होना आवश्यक है। इसीलिये भगवान् कपिल को सांख्यदर्शन का आदि प्रवर्तक माना जाता है। परंपरानुसार भी इस दर्शन के प्रथम

आचार्य एवं उपदेशक के रूप में इन्हीं का स्मरण किया जाता है। सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका में आचार्यों की वन्दना करते हुये पं० वाचस्पति मिश्र ने सांख्यदर्शन की गुरुपरम्परा का भी उल्लेख किया है—

कपिलाय महामुनये मुनिये शिष्याय तस्य चासुरये।
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः॥

अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा किये गये परमार्थ के चीनी अनुवाद के संस्कृत रूपान्तर से इससे भी विस्तृत गुरुपरम्परा का ज्ञान होता है—

इदं ज्ञानं कपिलादासुरेशागतम्।
आसुरिणा पञ्चशिखस्योपदिष्टम्।
पञ्चशिखेन गार्ग्यस्योपदिष्टम्।
गार्ग्येणोलूकस्यापदिष्टम् ॥
उलूकेन वार्षगणस्य। वार्षगणेन ईश्वरकृष्णस्य।
एव क्रमेण ईश्वरकृष्ण इदं ज्ञानमलभत॥

स्वय ईश्वरकृष्ण ने परमर्षि, आसुरि, पञ्चशिख नामक इस दर्शन के क्रमशः तीन प्रथम आचार्यों का स्मरण सांख्यकारिका ६९ तथा ७० में किया है। युक्तिदीपिकाकार[1] तथा तत्त्वकौमुदीकार[2] ने परमर्षि का अर्थ महर्षि कपिल किया है। इस प्रकार परंपरया भगवान् कपिल ही सांख्यदर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं।

१—परमर्षिर्भगवान् सांसिद्धिकैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यैराविष्टपिण्डो विश्वाग्रज. कपिलमुनिः—सां० का० ६९ युक्तिदीपिका

२—परमर्षिणा कपिलेन—सां० का० ६९ तत्त्वकौमुदी

ऋषि कपिल का उल्लेख सर्वप्रथम श्वेताश्वतरोपनिषद् में मिलता है—

ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ५।२ स

रामायण, महाभारत, पुराणों में अनेक बार कपिल का उल्लेख किया गया है। हिरण्यगर्भ, ब्रह्मपुत्र, भगवान् का पञ्चम अवतार, अग्नि का अवतार, सांख्यदर्शन के प्रवर्तक इत्यादि परस्पर भिन्न रूपों में कपिल का उल्लेख इन ग्रन्थों में किया गया है—

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः।
कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा॥
सप्तैते ब्रह्मणः पुत्राः —महा०।शान्ति

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः॥
महा०।शान्ति।३५०।६५

कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा।
अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्तकः॥
महा०।वन।२२१।२१

यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिं प्रजापतिम्—
महा० शान्ति।२१८।६

कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्या निश्चितनिश्चयाः—
महा०।शान्ति।३४२।६५ सद

कपिलश्च ततः प्राह सांख्यर्षिर्देवसंमतः—
महा०।१३।१८।४

सांख्यानां कपिलो ह्यसि — महा०

सिद्धानां कपिलो मुनिः—गीता १०।२६

कपिलो नाम देवोऽसौ भगवानजितो हरिः।
येन पूर्वं महात्मानः खनमाना रसातलम् ॥
दर्शनादेव निहताः सगरस्यात्मजा विभो ॥
महा ।४।४७।१८-१९

पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥
भागवत १।३।११

कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै द्विज।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशायोर्वीमुपागतः ॥
विष्णु २।१४।९

'आदिविद्वान् कपिल इति।...कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः। स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भः स एवेश्वर आदिविद्वान् कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः'—योगसूत्र १।२५ तत्त्ववैशारदी। इन परस्पर विरोधी कथनों के कारण ही डॉ॰ कीथ[1] ने कपिल की ऐतिहासिकता में संदेह प्रकट किया है। प्रो॰ मैक्समूलर, कोल ब्रूक तथा भारतीय विद्वान् म॰ म॰ पं॰ गोपीनाथ कविराज, म॰ म॰ डॉ॰ हरदत्त शर्मा इत्यादि भी महर्षि कपिल की ऐतिहासिकता के संबंध में संशयालु हैं। किंतु भारतीय परपरा महर्षि कपिल को सांख्यदर्शन का प्रवर्तक मानती ही है। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र २।१।१ के भाष्य में रामायण तथा महाभारत में निरूपित राजा सगर के पुत्रों को भस्म करने वाले मुनि कपिल से सांख्य प्रवर्तक महर्षि कपिल को भिन्न रूप में स्वीकार किया है। प्रो॰गार्वे ने भी अपनी पुस्तक 'Sankhya Philosophy में डॉ कीथ, प्रो॰ मैक्समूलर इत्यादि के कपिल-विरोधी मतों का खण्डन किया है तथा भारतीय परंपरा को बल प्रदान

1—Sankhya System. p, 9

करते हुये परस्पर प्रतिकूल रूप में उल्लिखित कपिल में सामंजस्य स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। यथा परस्पर विरोध रूप में प्रतीत होने वाली राम कथाओं को अनेक कल्पों की स्वीकृति के आधार पर भेद रहित, सत्य रूप में स्वीकर किया जाता है। महर्षि कपिल ही सांख्यदर्शन के प्रथम उपदेष्टा हैं, इस विषय में आचार्य पञ्चशिख का कथन सर्वाधिक प्रामाणिक है—

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्
भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच—

योगसूत्र १।२५ व्यासभाष्य (उद्धृत)

इस प्रकार महर्षि कपिल कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं, अपितु यथार्थ रूप में सांख्य सिद्धान्त के प्रथम प्रवर्तक हैं।

## २—आसुरि—

महर्षि कपिल के शिष्य आसुरि हैं जिनको गुरु परंपरा से सर्व प्रथम सांख्यज्ञान प्राप्त हुआ। पञ्चशिख के गुरु के रूप में इनका महाभारत में उल्लेख हुआ है।

भागवत में इनको महर्षि कपिल का शिष्य बतलाया गया है। गुरु ने तत्त्व निर्णायक सांख्यज्ञान को प्रवचन द्वारा इनको प्रदान किया और उस ज्ञान को लोप होने से बचाया—

पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥

भागवत।१।३।११

माठरवृत्ति के अनुसार आसुरि गृहस्थधर्म का परित्याग करके परिव्राजक बन गये और भगवान् कपिल के प्राणसम प्रिय शिष्य हो गये और इस प्रकार लोकानुग्रहकारक ज्ञान प्राप्त किये—

स एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः
किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव—

माठरवृत्ति, पृष्ठ २ चौखम्भा प्रकाशन

किंतु आसुरि का कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। केवल परंपरया इनका स्मरण किया जाता है।

## ३ पञ्चशिख

आसुरि के प्रथम शिष्य के रूप में पञ्चशिख का उल्लेख महाभारत में किया गया है। इनको 'पञ्चरात्रविशारद' भी कहा गया है—

आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्।
पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः।
पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥

महा०। शान्ति

सांख्यकारिका ७० में इसी का समर्थन किया गया है। यद्यपि आचार्य पञ्चशिख का कोई भी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, तथापि सांख्यतत्त्व-कौमुदी, भामती इत्यादि प्रमुख कृतियों में इनको सादर उद्धृत किया गया है—

यथाऽऽह स्म भगवान् पञ्चशिखाचार्यः 'स्वल्पः
सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः'

सां० का० २ तत्त्वकौमुदी

एकमेवदर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्—योगभाष्य १।४

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः—सांख्यसूत्र ६।६८

तदुक्तं पञ्चशिखाचार्येण—'तत्संयोग-
हेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतिकारः'

ब्रह्मसूत्र २।१।१० भामती

चीनी परंपरा सांख्यदर्शन के प्रसिद्ध किंतु लुप्त ग्रन्थ 'षष्टितन्त्र' के कर्ता के रूप में आचार्य पञ्चशिख का स्मरण करती है। किंतु म० म० पं० रामावतार शर्मा इसे आचार्य वार्षगण्य की कृति मानते हैं।

सांख्यसिद्धान्त के इन तीन प्रसिद्ध आचार्यों के अनन्तर जैगीषव्य, वार्षगण्य, विन्ध्यवास इत्यादि आचार्यों का वर्णन मिलता है जिन्होंने परंपरा को अविच्छिन्न रखते हुए अपने तप से सांख्यज्ञान को समृद्ध बनाया।

## ईश्वरकृष्ण

❀

सांख्यदर्शन के इतिहास में आचार्य ईश्वरकृष्ण का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। महर्षि कपिल प्रवर्तित एवं आचार्य आसुरि तथा पञ्चशिख संवर्द्धित सांख्यदर्शन की विचारधारा को विच्छेदरहित रूप से प्रवाहित करने वाले यही ईश्वरकृष्ण हैं। इसका अनुमोदन वे स्वयं ही अपनी सांख्यकारिका ६९-७२ में करते हैं। मानव जीवन के परम पुरुषार्थ अपवर्ग को संपन्न करने के लिये अतिशय अनुग्रह करके अत्यन्त रहस्यमय एवं दुर्बोध सांख्यज्ञान का उपदेश महर्षि कपिल ने आसुरि को दिया। गुरुगृहीत इस ज्ञान को कृपा करके आसुरि ने पञ्चशिख को प्रदान किया और पञ्चशिख ने इस ज्ञान का पर्याप्त प्रचार एवं प्रसार किया। परम पवित्र एवं कल्याणकारक यही ज्ञान गुरुशिष्य परंपरा से ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ और उन्होंने सम्यक् रूप से इस रहस्यात्मक ज्ञान को हृदयंगम करके ७० आर्या छन्दों में इसी को सुसंबद्ध कर दिया। इन कारिकाओं में निरूपण किये गये तत्त्व सांख्य के सबसे प्राचीन किंतु लुप्त ग्रन्थ षष्टितन्त्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही हैं। केवल इसमें आख्यायिकाओं तथा परमत खण्डन का अभाव है।

सप्तम्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥

सांख्यकारिका ७२

अतः सांख्यकारिकाकार आचार्य ईश्वरकृष्ण मुख्य रूप से कपिल-परंपरा का ही अनुगमन करते हैं। अन्य आचार्यों के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इस प्रकार वेदों, उपनिषदों, महाभारत इतिहास, पुराण इत्यादि ग्रन्थों में उल्लिखित सांख्यसिद्धान्तों का सार संग्रह करके आचार्य ईश्वरकृष्ण ने जिस सांख्यशास्त्र का प्रतिपादन किया, वह भारत का सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रसिद्धिप्राप्त दर्शन है। इसकी अत्यधिक ख्याति का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि आचार्य शंकर ने अपने शारीरक भाष्य में सांख्यकारिका के मतों को आधार मानकर उनके उपन्यास एवं खण्डन पूर्वक स्वसिद्धान्त की स्थापना करते हैं।

प्रमाणों के आधार पर आचार्य ईश्वरकृष्ण का समय प्रथम शताब्दी ई० से पर्याप्त पूर्व सिद्ध होता है। सांख्यकारिका के व्याख्याकार आचार्य माठर का प्रादुर्भाव कुशान सम्राट् कनिष्क (७८ ई० सन् के समय में हुआ था। इसलिये सांख्यकारिकाकार इससे पूर्व अवश्य ही रहे होंगे। प्रथम शताब्दी ई० के जैनग्रन्थ 'अनुयोग-द्वारसूत्र' ४१ में 'काविलं, माठरं, कनगसत्तरी' का उल्लेख है। अतः जैनग्रन्थ अनुयोगद्वारसूत्र के समय ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका ने पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। पं० गोपीनाथ कविराज, पं० उदयवीर शास्त्री इत्यादि विद्वानों के अनुसार यह 'कनगसत्तरी' ही कनक-सप्तति, हिरण्यसप्तति, सुवर्णसप्तति, सांख्यसप्तति है। सांख्यकारिका के ही ये सब नाम है! षष्ठ शताब्दी के चीनी विद्वान् परमार्थ ने वृत्ति सहित इसी कनगसत्तरी का हिरण्यसप्तति सुवर्णसप्तति, नाम से चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इस प्रकार कारिकाकार का समय प्रथम शताब्दी ई० से बहुत पहले सिद्ध होता है—

ईश्वरकृष्ण का समय ईसवी प्रथम शताब्दी के पूर्व होना चाहिये—

सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृष्ठ १७०

डॉ० कीथ ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवास को अभिन्न सिद्ध करते हैं और विन्ध्यवास को ही कारिकाकार बतलाते हैं तथा चीनी परंपरा का अनुसरण करते हुये ३५० ई० में स्थित वसुबन्धु का ही समकालीन विन्ध्यवास को सिद्ध करते हैं। अतएव विन्ध्यवास से अभिन्न ईश्वर-कृष्ण का भी यही समय निश्चित होता है। किन्तु डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र[1] ने कीथ के मतों का खण्डन किया हैं तथा वार्षगण्य एवं विन्ध्यवास से ईश्वरकृष्ण को सर्वथा भिन्न प्रमणित किया है। इसलिये ईश्वरकृष्ण का समय प्रथम शताब्दी ई. से पूर्व ही है।

यद्यपि आचार्य ईश्वर कृष्ण अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में आदि आचार्य महर्षि कपिल का अनुगमन करते हैं किंतु सांख्यकारिका में निरूपित सांख्य में ईश्वर तत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इस विषय में कुछ विद्वान् कापिलसांख्य का ईश्वरवादी मानने के पक्ष में हैं। पं० उदयवीर शास्त्री तो ईश्वरकृष्ण निरूपित सांख्य को भी सेश्वर स्वीकार करते हैं। क्योंकि सांख्यकारिका में केवल सृष्टि के उपादान कारण के रूप में ही ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है। इसका अभिप्राय ईश्वर तत्त्व का प्रत्याख्यान नहीं है। अतः ईश्वरकृष्ण को ईश्वरवादी ही कहना उपयुक्त है —

'ईश्वर को सृष्टि का उपादान न मानने के कारण कोई भी व्यक्ति निरीश्वरवादी कैसे कहा जा सकता है? पातञ्जल योगदर्शन भी ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं मानता, परन्तु उसे निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता। न्यायवैशेषिक भी ईश्वर को सृष्टि का उपा-

१ द्रष्टव्य-सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृष्ठ १६८-७०

दान कारण नहीं कहते, पर वे भी निरीश्वरवादी नहीं हैं और न कोई अन्य दार्शनिक उन्हें निरीश्वरवादी कहता है। ईश्वर की तरह पुरुष की भी उपादान-कारणता का यहाँ निषेध होने से, ईश्वरकृष्ण को तब पुरुषवादी भी नहीं माना जाना चाहिये। ... .. यदि पुरुष की उपादानता का प्रत्याख्यान करने पर भी वह पुरुष को मानता है, तो ईश्वर की उपादान-कारणता का खण्डन करने पर भी वह निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता'—

सांख्यदर्शन का इतिहास, पृष्ठ १२६

किंतु डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र ने शास्त्री जी के इस मत को सर्वथा अनर्गल एवं अनुपयुक्त बतलाया है। ईश्वरकृष्ण को ईश्वर नामक तत्त्व न तो उपादान कारण के रूप में ही और न तो निमित्त कारण के रूप में ही स्वीकार्य है। अतः उनके द्वारा प्रतिपादित सांख्य निरीश्वर ही है—

'ईश्वरकृष्ण सृष्टि के उपादान अथवा निमित्त, किसी भी रूप में ईश्वर को न मानने के कारण ही निरीश्वरवादी आचार्य हैं। 'पुरुष' को सृष्टि का उपादान न मानते हुये भी निमित्त मानने के कारण ईश्वरकृष्ण निस्संदेह पुरुषवादी या अध्यात्मवादी आचार्य हैं, जड़-वादी कदापि नहीं'। सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृष्ठ १६४

इस प्रकार सांख्यसिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने वाली सांख्यकारिका का कर्ता होने के कारण सांख्यदर्शन के इतिहास में आचार्य ईश्वर-कृष्ण का उत्कृष्टतम स्थान है।

आचार्य ईश्वरकृष्ण के अनन्तर वृत्तिकारों, टीकाकारों का समय आता है। इनमें आचार्य माठर, युक्तिदीपिकाकार, आचार्य गौड-पाद, जयमङ्गलाकार, पं० वाचस्पति मिश्र इत्यादि प्राचीन तथा नारायण तीर्थ मुड्डम्ब नरसिंह स्वामी, हरिहरानन्द आरण्यक, पं० बालराम उदासीन, पं० सम्राट् वंशीधर इत्यादि आचार्यों के नाम

विशेष उल्लेखनीय हैं। सांख्यदर्शन की दूसरी परंपरा में आचार्य अनिरुद्ध, विज्ञान भिक्षु, महादेव वेदान्ती इत्यादि अति प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनमें द्वादशकाननपञ्चानन एवं सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रूप से विश्रुत पं० वाचस्पति मिश्र का दर्शन के क्षेत्र में सर्वाधिक योगदान है।

## पं० वाचस्पति मिश्र

❀

भारतीय दर्शन साहित्य में पं० वाचस्पति मिश्र का अत्यन्त महनीय एवं गरिमामय स्थान है। दार्शनिक सिद्धान्तों के वे अनुपम व्याख्याकार हैं। दर्शन साहित्य को उनकी बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है। यह मिथिला के निवासी हैं। इनके गुरु का नाम त्रिलोचन है। इनका आविर्भाव काल नवम शताब्दी है।

पं० वाचस्पति मिश्र वास्तव में बृहस्पति के अवतार ही हैं। प्रकाण्ड पाण्डित्य, अलौकिक प्रतिभा एवं अद्भुत वैदुष्य से समलङ्कृत हैं। सभी दर्शन शास्त्रों में वे पूर्ण निष्णात हैं। साथ ही वेद-उपनिषद्-इतिहास-पुराण इत्यादि विविध शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। सर्वत्र इनकी अप्रतिहत गति है। इसीलिये 'द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन' रूप से इनकी प्रसिद्धि है। अपने प्रखर ज्ञानालोक से समस्त दर्शन-शास्त्र के अन्तस्तल को इन्होंने सुस्पष्ट रूप से प्रकाशित किया। अपनी अत्यन्त विशद एवं स्फुट टीकाओं के माध्यम से अतीव दुर्बोध दुरूह निगूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों को सरल, सुबोध सुग्राह्य बनाने का इन्होंने बहुत ही श्लाघनीय, साथ ही सफल प्रयास किया। वैशेषिक के अतिरिक्त सभी आस्तिक दर्शनों पर इन्होंने अत्यन्त प्रौढ पाण्डित्यपूर्ण टीकायें प्रस्तुत की। इन टीकाओं का सामान्य संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

### १—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका—

न्यायदर्शन संबन्धी उद्योतकर के 'न्यायवार्तिक' की यह अत्यन्त प्रामाणिक टीका है। न्यायवार्तिक बहुत ही गूढार्थ एवं दुर्गम था। साथ ही बौद्धों के तीक्ष्ण कटु आलोचना का न्यायशास्त्र विषय बना हुआ था। अतः बौद्धों के तर्कपङ्क से इस न्यायदर्शन का उद्धार करने के प्रयोजन से साथ ही न्यायवार्तिक को सुगम सुस्पष्ट बनाने के उद्देश्य से इन्होंने इस पर 'तात्पर्यटीका' नामक व्याख्या प्रस्तुत की। यह टीका बहुत ही प्रसिद्ध है तथा विद्वत्समाज में अधिक समादृत है। इसी कारण पं० वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्याचार्य' रूप से विश्रुति है।

### २—न्यायसूचीनिबन्ध—

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका के परिशिष्ट के रूप में इसकी रचना विक्रम संवत् ८९८ (ई० सन् ८४१) में की गई। इसमें प्राप्त होने वाले एक श्लोक के द्वारा इसके रचना काल की पुष्टि होती है—

न्यायसूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे॥

इस श्लोक के आधार पर पं० वाचस्पति मिश्र के समय का भी निर्णय होता है।

### ३—सांख्यतत्त्वकौमुदी—

ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' पर उपलब्ध होने वाली समस्त टीकाओं में तत्त्वकौमुदी का अद्वितीय स्थान है। सांख्यकारिका की यह अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण, विशद एवं गम्भीर टीका है। तुलनात्मक एवं विवेचनात्मक शैली के कारण, इसकी उपयोगिता बहुत ही अधिक है। कारिका में प्रयुक्त शब्दों का अक्षरार्थ आवश्यक व्युत्पत्तियों के साथ प्रस्तुत किया गया है। साथ ही भावार्थ तथा उपयुक्त सरल

उदाहरणों द्वारा वर्ण्यविषय को और भी अधिक सुगम्य एवं सुबोध बनाया गया है। इन्हीं विशेषताओं के कारण ही तत्त्वकौमुदी का अत्यधिक समादर है। यह टीका पण्डित समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय हुई तथा अनेक व्याख्याओं द्वारा इसकी समृद्धि की गई।

### ४—तत्त्ववैशारदी—

महर्षि पतञ्जलि के अतिसूक्ष्म, स्वल्पाक्षर एवं दुर्बोध 'योगसूत्र' को सुबोध बनाने का प्रयास व्यासभाष्य है। परन्तु भाषा-भाव-शैली तथा नवीन तथ्यों के उपन्यास के कारण स्वयं व्यासभाष्य भी एक अत्यन्त रहस्यमय ग्रन्थ है। इसके अति गम्भीर एवं गूढ रहस्यों को विवृता करने में यह तत्त्ववैशारदी टीका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

### ५—न्यायकणिका—

मण्डनमिश्र विरचित 'विधिविवेक' की यह टीका है। जो मीमांसा सिद्धान्त को प्रस्फुटित करती है। किंतु यह टीका आज दुर्लभ है।

### ६—ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा—

मण्डनमिश्र की ही 'ब्रह्मसिद्धि' पर प्रणीत यह विद्वत्तापूर्ण टीका है। जो वेदान्तसंबन्धी सिद्धान्तों को सुप्रतिष्ठित करती हैं। किंतु यह टीका भी सर्वथा अलभ्य है।

### ७—तत्त्वबिन्दु—

पं० वाचस्पति मिश्र की यह स्वतन्त्र रचना है। अर्थ के संदर्भ में भाषा का बड़ा ही सुन्दर एवं मौलिक विवेचन इसमें प्रस्तुत किया गया है। यह कृति उपलब्ध है।

### ८—भामती—

पं० वाचस्पति मिश्र की समस्त कृतियों में 'भामती' का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मसूत्र' पर प्रणीत शांकरभाष्य की यह

भव्य टीका है। सम्यक् शास्त्रीय विवेचन के साथ अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों की सुन्दर स्थापना इसमें की गई है। मिश्र जी की प्रतिभा का परम प्रकर्ष रूप इसमें उपलब्ध होता है। उनके सर्वतोगामी वैदुष्य के नितान्त अनुरूप ही यह 'भामती' है। उनके अगाध पाण्डित्य की यह परिचायिका है। शांकरभाष्य की इससे उत्कृष्टतर अन्य कोई टीका नहीं है। वेदान्त में 'भामतीप्रस्थान' को जन्म देने वाली यही 'भामती' है! अपने वेदान्त संबन्धी सिद्धान्तों के विषय में मिश्र जी विशेष रूप से मण्डन मिश्र के विचारों से प्रभावित हैं।

इस टीका का नामकरण मिश्र जी ने अपनी पत्नी भामती के नाम पर किया है। इस संबन्ध में यह अति प्रसिद्ध किंवदन्ती हैं। मिश्र जी विवाहित होने पर भी बहुत ही विरक्त प्रकृति के थे। गृहस्थ जीवन के प्रति सदैव उदासीन रहे। सांसारिक जीवन से निर्लिप्त रहकर निरन्तर ग्रन्थरचना में ही प्रवृत्त रहे। इस प्रकार वृद्धावस्था प्राप्त हो जाने पर भी वे संततिसुख से वञ्चित ही रहे। इस दुःख से संतप्त होकर किसी दिन पत्नी ने नाम तथा वंश की रक्षा, कुल की अविच्छिन्नता हेतु मर्मस्पर्शी वाणी में निवेदन किया। इस विषय में उनका उत्तर अत्यन्त समीचीन है। पुत्र के होने पर वंशपरम्परा सदैव अव्यवहित रूप से चलती ही रहे, निश्चित रूप से यह कहना संभव नहीं। अतः इस दिशा में जब अब तक प्रवृत्त नहीं हुआ, तो अब जीवन के इस अन्तिम भाग में उस पथ पर गमन क्यों करूँ? किंतु तुम्हारे नाम को अमर करने के लिये मैं अपनी सर्वोत्तम कृति, वेदान्तभाष्य की टीका का नाम 'भामती' रखकर तुम्हारे नाम को चिरस्थायी बना देता हूँ और यह सत्य ही है कि यह भामती टीका उनकी कीर्ति को सदैव अक्षय, स्थायी बनाये र गी। उनके विमल यश को सुप्रतिष्ठित बनाये रखने में यही स्थायी स्तम्भ है।

इस प्रकार भारतीयदर्शन की सभी प्रमुख शाखायें पं० वाचस्पति

मिश्र जी के प्रति अनुगृहीत हैं। प्रायः सभी के प्रति उनकी देन अद्-भुत है। दर्शन की सभी प्रधान शाखाओं पर प्रामाणिक एवं पाण्डित्य पूर्ण टीकाओं की रचना कर लोक का अतिशय कल्याण किया तथा अपनी टीकाओं द्वारा तत्तद् दार्शनिक सिद्धान्तों को परिपुष्ट, समृद्ध एवं सुप्रतिष्ठित बनाया। ये सभी टीकायें इनकी मौलिक प्रतिभा की परिचायिका हैं।

## ६—शैली—

विषय प्रतिपादन की पं० वाचस्पति मिश्र की शैली अत्यन्त विशद उदात्त एवं सुबोध है। सिद्धान्तों के सुस्पष्टीकरण में मिश्र जी का सफल प्रयास है। शब्दों के अक्षरार्थ, व्युत्पत्ति, भावार्थ एवं सुन्दर सरल समीचीन उदाहरणों द्वारा विषय को सुबोध तथा सुग्राह्य बनाने का पर्याप्त प्रयास किया है। इनकी तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक व्याख्या पद्धति प्रतिपाद्य विषय के सम्यक् अवगाहन में अत्यन्त सहायक है। खण्डनात्मक एव मण्डनात्मक शैली द्वारा इन्होंने प्रतिपाद्य दार्शनिक सिद्धान्तों की सुन्दर स्थापना की है। अन्य प्रतिकूल दर्शन के सिद्धान्तों का उपन्यास कर, उनके खण्डन के पश्चात् प्रतिपाद्य दर्शन के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करते हैं। यथा सांख्य अभिमत सत्कार्यवाद की स्थापना के अवसर पर सर्वप्रथम 'असतः सज्जायते, सतः असज्जायते एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत्' इत्यादि रूप से क्रमशः बौद्ध, न्यायवैशेषिक, अद्वैतवेदान्त के मतों को प्रस्तुत करके, युक्तियों द्वारा उनका प्रत्याख्यान करके पुनः सांख्यसम्मत 'सतः सज्जायते' की प्रतिष्ठा करते हैं तथा इस सिद्धान्त की 'असदकरणात्' इत्यादि हेतुओं द्वारा अच्छी तरह पुष्टि करते हैं। मूल भाग में विद्यमान कमियों, अपूर्ण-ताओं को दूर करके विषय को अत्यन्त स्पष्ट, सरल, संदेह रहित बनाते हैं। यथा सत्कार्यवाद की सिद्धि करने के लिये प्रस्तुत किये गये हेतु 'कारणभावात्' की सुन्दर व्याख्या करते हैं और कार्य-कारण में अभेद

की सिद्धि के लिये 'धर्मधर्मिसंबन्ध, उपादेय-उपादानभावसंवन्ध, संयोग एवं अप्राप्ति का अभाव तथा गुरुत्व के अन्तर का ग्रहण न होना' रूप हेतुओं को उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र सूत्रात्मक भाषा में निबद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को अपनी टीकाओं द्वारा सरल बनाने का पूर्ण प्रयास करते हैं और अपने इस प्रयास में वे सफल हैं।

पं० वाचस्पति मिश्र विविध दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन में सर्वथा पक्षपात रहित हैं। यद्यपि सभी प्रमुख दर्शनों के ऊपर उनकी व्याख्यायें हैं, तथापि किसी सिद्धान्त विशेष के वे पक्षपाती नहीं हैं। इस प्रकार उनको एकान्ततः नैयायिक, सांख्यमतानुयायी, योगसिद्धान्त समर्थक, कट्टर मीमांसक अथवा वेदान्तानुयायी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि अद्वैतवेदान्त ही उनका अपना विशेष प्रिय दर्शन है, तथापि इसका निर्णय करना सरल नहीं है। अपनी व्याख्याओं में पक्षपात की गन्ध, सिद्धान्तविशेष के प्रति अत्यधिक आग्रह से सर्वथा विरहित होने के कारण हा इनकी 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' रूप से प्रसिद्धि है। जिस समय वे जिस सिद्धान्त की व्याख्या करते हैं उस समय पूर्ण निष्ठा एवं तत्परता के साथ उसी प्रतिपाद्य शास्त्र के सम्मतसिद्धान्तों की स्थापना करते हैं। अन्य विरोधी मतों का अच्छी तरह खण्डन करके उसी वर्ण्यशास्त्र के सिद्धान्त का ही मण्डन करते हैं। सभी प्रकार से उसकी ही रक्षा का भार उस समय उनके ऊपर रहता है। अतः उस काल में वे सभी तरह से उसके ही समर्थक रहते हैं। उसी प्रतिपाद्य विषय के साथ पूर्ण तादात्म्य प्राप्त करके पूर्ण तन्मयता के साथ उसका पोषण करते हैं। इस प्रकार सांख्य की व्याख्या के अवसर पर वे न तो नैयायिक हैं और न तो अद्वैत वेदान्ती, अपितु पूर्ण आस्थावान् श्रद्धालु सांख्य-वादी ही रहते हैं। यद्यपि यत्र तत्र इन व्याख्याओं में स्वसम्मतसिद्धान्त के साथ उनका स्पष्ट विरोध रहा ही होगा, तथापि अपने व्यक्तिगत सिद्धान्त का मोह न करके प्रतिपाद्य शास्त्र का ही समर्थन करते हैं।

यथा अद्वैत वेदान्तमत का भी खण्डन करके सांख्य अभिमत 'सत्कार्य-वाद' की स्थापना प्रबल युक्तियों द्वारा करते हैं और इस प्रकार जगत् को नित्य ही सिद्ध करते हैं जो अद्वैत वेदान्त के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' सिद्धान्त के नितान्त प्रतिकूल है। इस स्थल पर सांख्य-सिद्धान्त की कुछ भी टीका टिप्पणी न करके बड़ी ही सत्यता से उसके पक्ष का समर्थन करते हैं और स्वसम्मत अद्वैत पक्ष का भी खण्डन अति संक्षेप में करते हैं -

**प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुमिति—**

सांख्यकारिका ९ तत्त्वकौमुदी

इसी प्रकार पुरुषसिद्धि तथा पुरुषबहुत्वसिद्धि में सांख्यकारिका द्वारा प्रस्तुत सदोष हेतुओं का खण्डन न करके उसका मण्डन ही करते हैं। इसी तरह अचेतन प्रकृति को निरपेक्ष रूप से स्वतः प्रवृत्ति को स्वीकार करते हैं तथा ईश्वरतत्त्व का प्रत्याख्यान करते हैं —

आरभ्यते इति 'आरम्भः' सर्गः महदादिभूतान्तः प्रकृत्यैव कृतो नेश्वरेण, न ब्रह्मोपादानः नाप्यकारणः। अकारणत्वे ह्यत्यन्तभावोऽत्यन्ताभावो वा स्यात्। न ब्रह्मोपादानः चितिशक्तेरपरिणामात्। नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतः, निर्व्यापारस्याधिष्ठातृत्वासंभवात्। नहि निर्व्यापारस्तक्षा वास्याद्यधिष्ठति।

सांख्यकारिका ५६ तत्त्वकौमुदी

इसी की पुष्टि सांख्यकारिका ५७ तत्त्वकौमुदी में उन्होंने की है।

इस प्रकार दर्शनजगत् में प० वाचस्पति मिश्र का अति गौरव-पूर्ण स्थान है। विविध दार्शनिक सिद्धान्तों के सुस्पष्टीकरण में इनका सर्वाधिक योगदान है। यद्यपि दार्शनिक सिद्धान्तों की समीचीन व्याख्या में मिश्र जी का प्रयास प्रशंसनीय है, तथापि इन व्याख्याओं में

सहसा प्रवेश पाना सर्वसामान्य के लिये सरल नहीं है। इनकी दुरूहता एवं दुर्गमता का प्रधान कारण मिश्र जी का अगाध आचार्यत्व, साथ ही विषय प्रतिपादन की उनकी नैयायिक शैली है। इसी कारण ये व्याख्यायें क्लिष्ट हो गई हैं। फिर भी मिश्र जी का टीकाकारों में अनुपम स्थान है ही।

## सांख्य-साहित्य

सांख्यदर्शन की मुख्य तीन परंपरायें आज उपलब्ध हैं—१ सांख्यकारिका २ सांख्यसूत्र ३ तत्त्वसमाससूत्र।

इनमें से कौन सी परंपरा मूल एवं प्राचीनतम है, निर्णयात्मक रूप से यह कहना संभव नहीं है। अधिकांश विद्वान् इनमें से सांख्यकारिका को ही सबसे प्राचीन एवं मूल ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। किंतु इस विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि महर्षि कपिल ने आसुरि को जिस सांख्यज्ञान का उपदेश दिया, उसका संग्रह रूप ग्रन्थ कौन सा है? क्या वह षष्ठ अध्यायात्मक सांख्यसूत्र है अथवा २२ सूत्रात्मक[1] अति स्वल्प कलेवर वाला ग्रन्थ तत्त्वसमाससूत्र है? अथवा सर्वाधिक प्रसिद्ध किंतु लुप्त हुआ षष्टितन्त्र ही आदि मूल ग्रन्थ है जिसके प्रति आभार प्रदर्शित करते हुये आचार्य ईश्वरकृष्ण स्वयं कहते हैं कि उनकी कृति सांख्यकारिका संक्षेप में, किंतु पूर्ण रूप से षष्टितन्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने वाली है। आचार्य भास्कर ने षष्टितन्त्र का कर्ता महर्षि कपिल को स्वीकार किया है—

**कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितन्त्राख्यस्मृते :—**

ब्रह्मसूत्रभाष्य २।१।१

१—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित 'तत्त्वसमाससूत्र' में २५ सूत्र हैं।

पं० उदयवीरशास्त्री[1] तथा म० म० कालीपद भट्टाचार्य[2] भी इसी विचारधारा के पोषक हैं। किंतु चीनी परंप्ररा तथा प्रो० हिरियन्ना के अनुसार आचार्य पञ्चशिख ही षष्टितंत्र के कर्ता हैं। किंतु म० म० पं० रामावतार शर्मा इसका कर्तृत्व वार्षगण्य को प्रदान करते हैं। पर डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र महर्षि कपिल को ही इसका कर्ता मानने के पक्ष में हैं।

## सांख्यकारिका—

सांख्यसाहित्य में सांख्यकारिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, प्रचलित एवं प्राचीन कृति है। विभिन्न संप्रदाय के मौलिक ग्रन्थों तथा भाष्य इत्यादि में इसका ही उद्धरण दिये जाने के कारण इसके महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। यह छोटी सी कृति ही समस्त सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली है। इन कारिकाओं की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। यद्यपि कनकसप्तति, हिरण्यसप्तति, सांख्यसप्तति के अनुसार इसमें ७० कारिकायें ही होनी चाहिये तथा ७२ कारिका में किये गये स्वयं ईश्वरकृष्ण के स्पष्ट कथन के अनुसार भी इसमें ७० कारिकायें होनी चाहिये। किंतु वर्तमान उपलब्ध कृति में ७२ कारिकायें विद्यमान हैं। आचार्य गौडपाद का भाष्य केवल ६९ कारिकाओं पर ही प्राप्त है। इसी आधार पर पाश्चात्यविद्वान् विल्सन तथा भारतीय विद्वान् लोकमान्य पं० बाल गङ्गाधर तिलक एक कारिका को लुप्त हुई स्वीकार करते हैं। लोकमान्य तिलक के अनुसार आचार्य गौडपाद द्वारा ६१ वीं कारिका का प्रस्तुत भाष्य दो कारिकाओं का है।

---

1—Proceedings of the Oriental Conference, Lahore II p. 882

2—Some Problems of Sankhya Philosophy and Sankhya Literature I.H.Q Sept. 1932 p. 519-20

कारिका ६२ लुप्त हो गई है, किंतु उसका भाष्य सुरक्षित है। उनके अनुसार लुप्त हुई कारिका का स्वरूप इस प्रकार होना चाहिये—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च॥

श्री तिलक जी की दृष्टि में किसी असहिष्णु ने इस कारिका को मूल भाग से पृथक् कर दिया, किंतु इस कारिका के भाष्य को वह न निकाल सका। म० म० डॉ० उमेश मिश्र ने बद्ध-मुक्त-ज्ञ रूप त्रिविध पुरुष स्वीकार किया है। सांख्यकारिका १०, ११, १९ में पुरुष के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, वह 'ज्ञपुरुष' है। किंतु सांख्य-कारिका १७ में 'बद्धपुरुष' की सिद्धि की गई है, ज्ञ की नहीं। इसी 'ज्ञपुरुष' को सिद्ध करने वाली कारिका १७ के पश्चात् एक कारिका का लोप वे स्वीकार करते हैं, किंतु डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र[1] ने युक्तियों द्वारा यह प्रमाणित किया है कि वर्तमान सांख्यकारिका का स्वरूप मूल एवं प्रामाणिक ही है। इन उपलब्ध ७२ कारिकाओं में न तो कोई कारिका लुप्त हुई है और न तो कोई प्रक्षिप्त ही है।

समग्र सांख्य सिद्धान्तों को अति संक्षेप में प्रस्तुत करने के कारण सांख्यकारिका की भाषा सूत्रवत् एवं सारगर्भित है। स्वल्पाक्षरों में निबद्ध होने के कारण ही यह अत्यन्त गम्भीर तथा दुर्बोध है। इसी-लिये इसके गूढार्थ को विवृत करने के लिये विविध प्रकार के प्रयास किये गये। इनमें आचार्य माठर का सर्व प्रथम उद्योग है। जिसकी रचना सांख्यकारिका के प्रणयन के कुछ समय पश्चात् ही हुई। इस प्रकार उपलब्ध टीकाओं में 'माठरवृत्ति' सबसे प्राचीन है। सांख्य-कारिका की एक और भी अधिक प्राचीन टीका बतलाई जाती है, जो आज प्राप्त नहीं होती और संभवतः इसी टीका का चीनी भाषा में

१ द्रष्टव्य—सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृष्ठ २०३-२०५

अनुवाद षष्ठ शतक के बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने किया तथा इसी की संस्कृत छाया पं० अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा प्रस्तुत की गई। अनुयोगद्वारसूत्र, परमार्थकृत चीनी अनुवाद इत्यादि में इसी का नाम 'कनगसत्तरी, कनकसप्तति, हिरण्यसप्तति, सांख्यसप्तति' इत्यादि है। किंतु डॉ० वेल्वल्कर ने हिरण्यसप्तति को विन्ध्यवासकृत सांख्यकारिका की टीका स्वीकार की है। इनकी इस मान्यता का मुख्य आधार योगसूत्रभोजवृत्ति' में उल्लिखित विन्ध्यवास का ही कथन है—

'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्'
'बिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छायासदृशच्छायान्तरोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते,

भोजवृत्ति ४।२२

किंतु डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र के अनुसार डॉ० वेल्वल्कर का मत समीचीन नहीं है—

'इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हिरण्यसप्तति विन्ध्यवास कृत व्याख्या का नाम नहीं, अपितु सांख्यसप्तति या सांख्यकारिका का ही नामान्तर रहा होगा—

सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा, भूमिका— पृष्ठ २७

माठरवृत्ति के अनन्तर सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य, जयमङ्गला, सांख्यतत्त्वकौमुदी, सांख्यचन्द्रिका, सांख्यतरुवसन्त, विद्वत्तोषिणी, सुषमा, किरणावली, सांख्यतत्त्वदिवाकर, सांख्यतत्त्वविभाकर इत्यादि अति प्रसिद्ध टीकायें हैं। टीकाओं की इस विस्तृत शृङ्खला से यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि सांख्यदर्शन बहुत ही प्रसिद्ध एवं प्रचलित शास्त्र है और इसका अत्यन्त विशद एवं गहन अध्ययन किया गया। विद्वत्समाज में इसका बहुत ही अधिक सम्मान है।

## सांख्यसूत्र—

❀

सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादक अन्य ग्रन्थ सांख्यसूत्र है। किंतु इसके कर्ता के संबन्ध में अनेक मत हैं। भारतीय परंपरा महर्षि कपिल को ही इसका कर्ता मानती है। तत्त्वसमाससूत्र की टीका सर्वोपकारिणी के अनुसार 'सांख्यसूत्र' तथा 'तत्त्वसमाससूत्र' दोनों ही सूत्र ग्रन्थों के कर्ता भिन्न-भिन्न कपिल हैं, परन्तु, विज्ञानभिक्षु के अनुसार दोनों ही ग्रन्थ समान कर्तृक हैं। सांख्यसूत्र के व्याख्याकार आचार्य अनिरुद्ध[1] तथा विज्ञानभिक्षु[2] इसको कपिल-प्रणीत स्वीकार करके ही अत्यन्त श्रद्धा पूर्वक इस पर अपनी-अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अपनी पुस्तक 'सांख्यदर्शन का इतिहास' में पं० उदयवीर शास्त्री ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि वर्तमान उपलब्ध षडध्यायी सांख्यसूत्र ही महर्षि कपिलकृत मूल षष्टितंत्र है। ईश्वरकृष्ण द्वारा की गई प्रतिज्ञा के अनुसार सांख्यसूत्र के साथ सांख्यकारिका का अद्भुत

१— अतिकारुणिको महामुनिर्जगदुद्दिधीर्षुः कपिलो मोक्षशास्त्रमारभमाणः प्रथमसूत्रं चकार'

अनिरुद्धवृत्ति —उपोद्घात

२— तत्र श्रुतिभ्यः श्रुतेषु पुरुषार्थ-तद्धेतुज्ञान-तद्विषयात्मस्वरूपादिषु श्रुत्यविरोधिनीरुपपत्तीः षडध्यायीरूपेण विवेकशास्त्रेण कपिलमूर्तिर्भगवानुपदिदेश -

सांख्यप्रवचनभाष्य —उपोद्घात

तदिदं सांख्यशास्त्रं कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान्—

सांख्यप्रवचनभाष्य —उपसंहार

सादृश्य मिलता है। इन दोनों की तुलना के आधार पर ही उन्होंने अपने इस सिद्धान्त की स्थापना की है—

यह निश्चित है कि उसने (ईश्वरकृष्ण) जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया, वह वर्तमान सांख्य-षडध्यायी ही है। इसी का प्राचीन नाम षष्टितन्त्र है।

सांख्यदर्शन का इतिहास पृष्ठ १०४

किंतु सांख्यसूत्र में आसुरि के शिष्य पञ्चशिख के मत भी उद्धृत किये गये हैं—

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः—

सांख्यसूत्र ५।३२

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः—

सांख्यसूत्र ६।६८

इसी तरह इसमें प्राप्त होने वाले कुछ सूत्र दूसरे ग्रन्थों से संगृहीत हैं। इसकी प्राचीनता तथा कपिलप्रणीत होने के विषय में सबसे अधिक संदेहास्पद बात यह भी है कि आचार्य शंकर इत्यादि ने सांख्य-कारिकाओं को उद्धृत किया है, किन्तु सूत्रों की नहीं। पं० वाचस्पति मिश्र ने तो पञ्चशिख तथा वार्षगण्य के मतों को अपनी सांख्यतत्त्वकौमुदी में उद्धृत किया है, पर कापिल सूत्रों का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है। १४ वीं शताब्दी के माधवाचार्य ने भी अपने सर्वदर्शन संग्रह में केवल कारिकाओं को ही उद्धृत किया है, सांख्यसूत्रों को नहीं। इससे सांख्य सूत्र की अर्वाचीनता, साथ ही कपिल कर्तृत्व के निरास की सिद्धि होती है।

किंतु किसी ग्रन्थ में उल्लिखित होना मात्र ही उसकी प्राचीनता की सिद्धि में हेतु नहीं है। अनेक ऐसे आचार्य हैं, जिनका परवर्ती

आचार्यों द्वारा उल्लेख नहीं हुआ है, फिर भी उनका पूर्वस्थायित्व असंदिग्ध ही रहता है। इसीलिये डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र[1] ने उपलब्ध वर्तमान सांख्यसूत्र में अनेक प्रक्षिप्तांशों को बतलाया है जो उसकी प्राचीनता में बाधक हैं। सांख्यसूत्र का अन्य दर्शनों के साथ तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण सांख्यसूत्र महर्षि कपिल प्रणीत नहीं है, तथापि इसमें अधिकांश मूल भाग अवश्य ही निहित है—

'जिन सूत्रों के आधार पर समस्त सांख्यसूत्र को अर्वाचीन सिद्ध किया जाता है, वे प्रक्षिप्त हैं। वे कपिल-कृत नहीं हैं। परवर्ती काल में अन्यों के द्वारा ठूंस दिये गये हैं।'

'यद्यपि वर्तमान काल में उपलब्ध सांख्यसूत्र समूचे के समूचे आदि विद्वान् कपिल की रचना नहीं कहे जा सकते, इसमें अनेक सूत्र निस्संदेह प्रक्षिप्त हैं, तथापि यह बात असंदिग्ध है कि महर्षि कपिल की कृति इन्हीं सूत्रों में निलीन अथवा समाविष्ट है।'

सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परंपरा, पृष्ठ ११० एवं ११३

सांख्यसूत्र के टीकाकारों में सर्व प्रथम १५ वीं शताब्दी के आचार्य अनिरुद्ध हैं। यह अनिरुद्धवृत्ति एक अत्यन्त प्रामाणिक तथा वैदुष्यपूर्ण टीका है। विज्ञानभिक्षु ने अपने सांख्यप्रवचनभाष्य में सांख्यसूत्र की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। इसी तरह महादेव वेदान्ती द्वारा प्रस्तुत वृत्तिसार भी सांख्यसूत्र की प्रसिद्ध व्याख्या है।

### तत्त्वसमाससूत्र—

❀

सांख्यसिद्धान्त की स्थापना में इस लघुकृति तत्त्वसमाससूत्र का

---

१ सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृष्ठ ८८—११३

भी अपना विशिष्ट स्थान है। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस से १९१८ में प्रकाशित सांख्यसंग्रह में इस पर की गई ५ टीकाओं का संग्रह है—

१—सांख्यतत्त्वविवेचन-षिमानन्द, २—तत्त्वयाथार्थ्यदीपन-भावागणेश, ३ सर्वोपकारिणी ४—सांख्यसूत्रविवरण ५-तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति ( मदीपका )।
इनके अतिरिक्त कलकत्ता से १८९० में प्रकाशित हुई 'कपिलसूत्रविवरण' नाम की एक और टीका इस पर प्राप्त होती है।

इस प्रकार प्राचीनता के साथ-साथ अत्यन्त समृद्ध साहित्य से समलङ्कृत होने के कारण सांख्य का दर्शन जगत् में वहुत ही गरिमामय स्थान है।

## सांख्यदर्शन का प्रयोजन एवं त्रिविध दुःख—

❀

भारतीय दर्शन का परम प्रयोजन पुरुषार्थ को संपन्न करना है। अपवर्ग, कैवल्य, मोक्ष, निःश्रेयस, निर्वाण ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य, प्राप्तव्य है। इसी की सिद्धि के लिये भारतीय दर्शनों की प्रवृत्ति होती है तथा इसी प्रयोजन के संपादन में उनका दर्शनत्व भी चरितार्थ होता है—

**दृश्यते साक्षात्क्रियते अध्यात्मज्ञानपुरस्सरं परमपुरुषार्थोऽपवर्गः अनेन इति दर्शनम्**

संसार के सभी मनुष्य नाना प्रकार के क्लेशों से पीड़ित हैं। दर्शन ही दुःखनिवृत्ति के मार्ग को बतलाता है। इस प्रकार दर्शन रूप सर्वोत्कृष्ट सृष्टि के उद्भव में दुःखजिहीर्षा ही प्रधान कारण बनती है।

अन्य दर्शनों की भाँति सांख्यदर्शन का भी प्रधान प्रयोजन दुःख

की सार्वकालिक निवृत्ति है। दुःख के निराकरणार्थ ही इस शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, इसका अत्यन्त स्पष्ट ज्ञान प्रथम ही सांख्यकारिका तथा प्रथम सांख्यसूत्र से हो जाता है—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥

सांख्यकारिका १

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः—

सांख्यसूत्र १।१

दुःखनिरास की प्रतिज्ञा करके ही यह शास्त्र प्रारम्भ होता है और इसके निवारण के मार्ग को बतलाया है। इस तरह दुःख-दुःखहेतु-मोक्ष-मोक्षोपाय रूप चतुर्व्यूह का अच्छी तरह प्रतिपादन सांख्यदर्शन करता है।

दुःखत्रय—सांख्यदर्शन स्वीकार करता है कि इस संसार में दुःख है और उनसे सभी मनुष्य पीड़ित हैं। आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक रूप से इन दुःखों का त्रिविध वर्गीकरण किया गया है। पुनः शारीरिक एवं मानसिक भेद से आध्यात्मिक दुःख द्विविध हैं—

'आत्मनि देहे मनसि वेति अध्यात्मम्
तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शरीरं मानसं च'

वात-पित्त-श्लेष्मा रूप त्रिविध दोषों के वैषम्य से उत्पन्न शीत, ताप, ज्वर, अतिसार इत्यादि दुःख शारीरिक हैं तथा काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद मत्सर, भय-ईर्ष्या-विषाद, शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध इत्यादि अभिलषित विषयों से वियोग एवं अनभिलषित से संयोग इत्यादि निमित्त जन्य दुःखों को मानसिक दुःख कहते हैं। अन्न-जल-सुमधुर पेय, औषध, इन्द्रियनिग्रह-दया-दान-विवेक इत्यादि उपायों का शरीर

तथा मन के भीतर प्रयोग किये जाने से उपशमित होने वाले दुःखों को आन्तरिक या आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। आन्तरिक उपायों द्वारा निवर्तनीय होने के कारण ही इन दुःखों की संज्ञा आध्यात्मिक है—

सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्—

सांख्यकारिका १ तत्त्वकौमुदी

बाह्य उपायों से दूर किये जाने वाले दुःख दो प्रकार के हैं—आधिभौतिक एवं आधिदैविक। जरायुज-अण्डज-स्वेदज-उद्भिज्ज नामक चार भूत होते हैं। अतः मनुष्य-पशु-पक्षी-सरीसृप-मशक-कुडमल तथा प्राकृतिक पदार्थों के निमित्त मिलने वाला दुःख आधिभौतिक है—

'भूतानि जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जरूपाणि चराचरजातीयानि अधिकृत्य निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखमाधिभौतिकम्'

देव-यक्ष-राक्षस-विनायक-ग्रह इत्यादि की प्रतिकूलता से उत्पन्न आँधी-वर्षा, अतिवृष्टि-अनावृष्टि, शीत-आतप, वज्र-उल्कापात, इत्यादि आधिदैविक दुःख हैं—

'देवान् यक्षादीन् दिवःप्रभवान् वातवर्षातपशीतोष्णादीन् वा निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखमाधिदैविकम्'—

सां० का० १ विद्वत्तोषिणी

यद्यपि सभी विषय प्रकृति के विकार होने के कारण उसी से संबद्ध है। पुरुष तो स्वरूपतः निर्विषय है। मन इत्यादि इन्द्रियों द्वारा बुद्धि विषयों को ग्रहण करती है और सुखदुःखमोहात्मक विषयों से उपरञ्जित हो जाती है। बुद्धि में संक्रमित पुरुष इन सभी विषयों को अपने में उपचरित करके उनमें अभिमान करता हुआ उनका उपभोग करता है और स्वरूपतः असङ्ग, सुखदुःख से असंपृक्त होने पर भी सुखी दुःखी मोहयुक्त होता है—

गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः–

सां० का० २० सद

उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्–

सांख्यसूत्र १।१६४

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता–

योगसूत्र २।६

इस प्रकार मन के द्वारा अनुभव किये जाने के कारण यद्यपि सभी दुःख मानसिक ही है, तथापि जिसमें केवल मन की अपेक्षा हो, वह दुःख मानसिक तथा शरीर आदि अन्य निमित्तों के कारण शेष दुःख शारीरिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक है।

ननु सर्वस्यापि दुःखस्य मनोधर्मत्वेन मानसत्वात् कथं मानसत्वामानसत्वव्यवहार इति चेत्, न, मनोमात्रजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वव्यवहारः—

सांख्यकारिका १ तत्त्वविभाकर

इसी विचार से इन दुःखों का त्रिविध विभाजन है।

संसार के समस्त पदार्थ सत्त्वरजस्तमो रूपा प्रकृति के विकार होने कारण सुखदुःखमोह मिश्रित हैं। अतएव निष्केवल सुख की प्राप्ति कभी संभव है ही नहीं। इसीलिये विवेकी मनुष्य के लिये जगत् के सभी पदार्थ दुःखरूप ही हैं—

परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः– योगसूत्र २।१५

यह दुःख रजो गुण का परिणाम है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के नित्य होने के कारण यह दुःख भी नित्य है। इन्हीं त्रिविध दुःखों के साथ

अन्तःकरणवर्ती चेतनशक्ति का जो अत्यन्त असह्य प्रतिकूल वेदनीय संबन्ध है, यही इन दुःखों की जिहासा में हेतु है। अतः इन दुःखों की सत्ता का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। सभी मनुष्य इन दुःखों के अपघात से पीड़ित हैं, अतएव वे इनका समूल समुच्छेद चाहते हैं—

तदेतत्प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्। तदनेन दुःखत्रयेणान्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलवेदनीयतयाऽभिसंबन्धोऽभिघात इति एतावता प्रतिकूलवेदनीयत्वं जिहासाहेतुरुक्तः'

सांख्यकारिका १ तत्त्वकौमुदी

इस प्रकार दुःख की सत्ता का सांख्यदर्शन स्वीकार करता है और उसकी जिहासा को भी बतलाता है।

दुःख का कारण—इन दुःखों का मूल कारण अनादि अविद्या ही है। सभी सुख-दुःख प्राकृतिक हैं। स्वभावतः पुरुष सभी प्रकार के दुःखों से रहित है। किंतु बुद्धि के उपराग को प्राप्त कर वह भी तद्रूप हो जाता है। यथा स्वच्छ स्फटिक जपाकुसुम के सानिध्य से उपरक्त हो जाता है। अविद्या के कारण ही पुरुष का प्रकृति के साथ संबन्ध होता है—

तस्य हेतुरविद्या योगसूत्र १।२४

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः—सां० सू० ६।६८

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः—

योगसूत्र २।२०

इस प्रकार अविद्या, मिथ्याज्ञानजन्य पुरुषप्रकृतिसंयोग ही समस्त दुःखों का कारण है। प्रकृति के साथ विवेक ग्रहण न होने से ही

प्रकृतिगत समस्त विषयों में स्वार्थबुद्धि रखकर वह उनकाउ पभोग करता है। अतः अविवेक, अज्ञान ही पुरुष के बन्धन में कारण है।

ज्ञानेन चाऽपवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः—

सां० का० ४४ सद

और इस अविद्या के कारण जब तक द्रष्टा-दृश्य का संयोग बना रहता है, तब तक पुरुष को दुःख भोगना ही पड़ता है।

मोक्ष—सांख्य तथा इसके समान तन्त्र योग के अनुसार त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। प्रकृति के साथ अपने संबन्ध को समाप्त कर पुरुष का अपने ही चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्—योगसूत्र १।३

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्—योगसूत्र ३।५५

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः—

योगसूत्र ४।३४

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति पुरुषः॥

सांख्यकारिका ६८

## दुःखनिवृत्ति

❀

दुःख के प्रहार से उद्विग्न होने से उसके विषय में जिज्ञासा होती है। अतः इनके निवारण का उपाय सांख्यदर्शन उपस्थित करता है और

इस उद्देश्य की सिद्धि में प्रयोग किये जाने वाले लौकिक एवं वैदिक उपायों की अनुपयोगिता को वह बतलाता है। इन दुःखों के परिहार के लिये बहुत से लौकिक उपाय विद्यमान हैं और वे अत्यन्त सुकर एवं सुलभ हैं। यथा श्रेष्ठ वैद्यों द्वारा बतलाये गये रसायन, औषध सेवन, शल्य क्रिया इत्यादि शारीरिक दुःखों के दूर करने के अति सरल उपाय हैं। इसी प्रकार मनोज्ञ स्त्री, अभिलषित पान, भोजन, विलेपन, वस्त्रालङ्कार इत्यादि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति तथा अप्रिय वस्तुओं का परिहार इत्यादि मानसिक दुःख के शमन के सुकर लौकिक उपाय हैं। इसी तरह नीतिशास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न कुशलता, निरापद स्थान में निवास इत्यादि आधिभौतिक दुःखों के निवारण में तथा मणि धारण, मन्त्रों का अनुष्ठान, जपतपपूजापाठ औषध सेवन इत्यादि आधिदैविक दुःख निवृत्ति के सरल लौकिक उपाय हैं। अतः दुःख निवृत्तिमें अत्यन्त सरल लौकिक उपायों के सुलभ होने पर इनकी ओर ही सबकी प्रवृत्ति होगी। क्योंकि कहा भी गया है कि—

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥

और सांख्यशास्त्र प्रतिपादित सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप तत्त्वज्ञान अनेक जन्मों के सतत अभ्यास एवं अविच्छिन्न साधना के द्वारा सिद्ध होने के कारण अतीव दुष्कर हैं। अतएव इस पथ में किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। किंतु लौकिक उपायों के प्रयोग से दुःख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति संभव नहीं है, क्योंकि दुःख की अनिवार्य रूप से निवृत्ति नहीं होती तथा उपशमित होने पर भी पुनः दुःख उद्भूत हो जाते हैं। इसीलिये सुकर एवं सुलभ होने पर भी लौकिक उपायों के प्रयोग से दुःख का निश्चित रूप से तथा सार्वकालिक रूप से समुच्छेद नहीं होता। अतः लौकिक उपाय ग्राह्य नहीं हैं।

इसी प्रकार दुःख के निरास में आनुश्रविक उपायों की अनुपयोगिता को सांख्यदर्शन प्रमाणित करता है। यद्यपि 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' 'अपाम सोम अमृता अभूम' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से सिद्ध होता है कि वैदिक कर्मकलाप, यज्ञानुष्ठान स्वर्ग रूप उत्कृष्ट फल को प्रदान करने वाले हैं जो दुःखाभाव तथा सुखविशेष रूप है।

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

तापत्रय के प्रतिकार में ये वैदिक उपाय भी सरल हैं तथा सांख्य प्रतिपादित विवेकज्ञान की सिद्धि की अपेक्षा अधिक सरल हैं। अतः दुष्कर, दुःसाध्य सांख्यज्ञान की ओर किसी की प्रवृत्ति होगी ही नहीं। किंतु तापत्रय के निराकरण में बतलाये गये यज्ञादि उपाय भी दुःख निरास में लौकिक उपायों के सदृश ही हैं। क्योंकि वे सभी उपाय अशुद्ध हैं एवं विनाशशील तथा विषम फल को उत्पन्न करने वाले हैं। 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि रूप से सोमयाग, अश्वमेध, वाजपेय इत्यादि याग पशुहिंसा, बीजविनाश इत्यादि साधनों से संपन्न होते हैं। हिंसा के कारण ही स्वर्ग के साधनभूत वैदिक उपाय अविशुद्ध हैं। आचार्य पञ्चशिख के अनुसार ज्योतिष्टोम इत्यादि याग जन्य धर्म नामक प्रधान अपूर्व के साथ पशुहिंसा से उत्पन्न अनर्थकारी अधर्म नामक अप्रधान अपूर्व के साथ स्वल्प संकर होता है तथा अत्यल्प प्रायश्चित्त द्वारा यह अधर्म निवर्तनीय होता है और यदि प्रमादवश प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया तो प्रधान कर्म के विपाक के अवसर पर वह किंचिन्मात्र अधर्म भी अपना अशुभ फल प्रदान करता है, किंतु वह फल सह्य होता है—

'स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः'

वैदिक उपायों के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाला स्वर्गरूप फल क्षयिष्णु

होता है। क्योंकि जो जो कार्य होता है, वह अनित्य होता है। यथा घट, पट इत्यादि कार्य –

यद् यत्कार्यं तत्तदनित्यम्, स्वर्गादिकं क्षयित्वं,
भावत्वे सति कार्यत्वाद् घटवत्

इसी प्रकार वैदिक उपायों से प्राप्त होने वाले फल न्यूनाधिक्य दोष से विद्ध होते हैं। ज्योतिष्टोम के संपादन से स्वर्ग मात्र की सिद्धि होती है, किन्तु वाजपेययाग करने से ऐन्द्र पद, स्वर्गाधिपति की प्राप्ति होती है और पर पुरुष का उत्कर्ष हीन सपदा वाले पुरुष को दु खी बनाता ही है।

इसीलिये अविशुद्धि-क्षय-अतिशय रूप त्रिविध दोषों से विद्ध होने के कारण वैदिक उपाय भी लौकिक उपायों के सदृश ही हैं और दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति में सर्वथा उपयुक्त नहीं है और मानव दुःखों की अनिवार्य रूप से तथा सार्वकालिक रूप से निवृत्ति चाहता है। अतः लौकिक एवं वैदिक उपायों के सुकर, साथ ही सुलभ होने पर भी अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये मनुष्य की जिज्ञासा अति दुष्कर होने पर भी सांख्यप्रतिपादित व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञान के विषय में होगी ही।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥

अतः सांख्यशास्त्र प्रतिपादित व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ का विज्ञान ही दुःख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति में उत्कृष्टतम उपाय है। समस्त दुःखों का कारण अविद्या ही है। इसी कारण प्रकृति-पुरुष का संयोग होता है और इसी अविवेक, अभेद प्रतीति के कारण ही बुद्धिगत समस्त विषयों का कर्ता एवं भोक्ता बनकर पुरुष सुखी दुःखी होता है। अतः सांख्यशास्त्र द्वारा बतलाई गई विधि से व्यक्त के स्वरूप का ज्ञान,

उसके मूल कारण अव्यक्त प्रकृति का ज्ञान और इन दोनों से नितान्त पृथक् पुरुष के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान होता है। अविद्या जन्य प्रकृति-पुरुष के संयोग की समाप्ति हो जाती है। पुरुष को अपने यथार्थ, सत्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता है कि मैं न तो क्रियावान् हूँ, न कर्ता हूँ और न तो मेरा भोक्तृत्व ही है। मैं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव वाला, अपरिणामी चेतन पुरुष हूँ। त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सर्वथा भिन्न सुखदुःखमोह रहित मैं पुरुष हूँ

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥

सांख्यकारिका ६४

संशय-विपर्यय रहित केवल ज्ञान की प्राप्ति होते ही व्यक्त-अव्यक्त के साथ पुरुष का विवेक ज्ञान हो जाता है और वह सदा के लिये मुक्त हो जाता है। दुःख से उसे सार्वकालिक निवृत्ति मिल जाती है। वह अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही पुरुष का भाव केवली कैवल्य है और इसी की सिद्धि मानव जीवन का परम पुरुषार्थ तथा सांख्यदर्शन का प्रधान प्रयोजन है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रमाणमीमांसा-तत्त्वमीमांसा-सृष्टिप्रक्रिया, सरूपविरूप-परिणाम इत्यादि का निरूपण सांख्यदर्शन करता है और दुःख-दुःख-हेतु-मोक्ष-मोक्षोपाय रूप से चतुर्धा उसकी प्रवृत्ति होती है।

# प्रमाण

यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण कहते हैं। ज्ञान की महिमा सर्वत्र विदित ही है। ज्ञान सदैव प्रशस्य, स्तुत्य होता है तथा अज्ञान निन्द्य। यथा चक्षुष्मान् पुरुष सम-विषम सभी प्रकार के पथ पर सदा सरलतापूर्वक अग्रसर होता जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष जीवन-पथ में कर्त्तव्याकर्तव्य के विवेकपूर्वक सर्वत्र अबाधगति से बढ़ता हुआ श्री लाभ करता है। किंतु अज्ञानी पुरुष चक्षुविहीन की भाँति अपने पथ से स्खलित, विचलित होता हुआ विफलता का भागी बनता है। इसीलिये इहलौकिक अभ्युदय तथा जीवन की मधुरिमा के लिये ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। साथ ही आमुष्मिक सुख एवं अनन्त आनन्द स्वरूप अपवर्ग की सिद्धि म भी ज्ञान ही हेतु है —

**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**

ज्ञान से ही भोगापवर्ग रूप द्विविध पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। इस ज्ञान की यथार्थता तथा अयथार्थता, सत्यत्व एवं मिथ्यात्व का सम्यक् शिनचय प्रमाण द्वारा ही संभव है। अतः प्रमेय, ज्ञातव्यविषय के यथार्थ ज्ञान के अन्यतम साधन को प्रमाण कहते हैं—

**'प्रमाकरणं प्रमाणम्' 'प्रमायाः करणं प्रमाणम्'**

प्रमा के करण, साधकतम, प्रमुखतम कारण को प्रमाण कहते हैं। इस संबंध में चार तत्त्वों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है —

१ प्रमाता—ज्ञान प्राप्त करने वाला चेतन पुरुष।

२ प्रमेय—ज्ञातव्यविषय, जिसका ज्ञान पुरुष प्राप्त करता है।

**३--प्रमाण**--मुख्यतम साधन, जिससे प्रमेय के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

**४--प्रमा**--यह प्रमाण का फल, प्रमेय के विषय में पुरुष-गत बोध है।

## प्रमाण

❀

सांख्यसिद्धान्त के अनुसार असंदिग्ध, विरोधरहित एवं अनधिगत विषय वाली चित्तवृत्ति ही प्रमाण है अर्थात् यह प्रमाण वह चित्त-वृत्ति, अध्यवसायात्मिका बुद्धि का निश्चयात्मक परिणाम है, जिसका विषय संशय-विपर्ययरहित निश्चित रूप हो, जिसकी सत्यता का किसी अन्य ज्ञान से किसी भी काल में बाध न हो तथा किसी अन्य साधन से जिसका पहले से ज्ञान न हो, पूर्वतः अननुभूत, अज्ञात हो, इस प्रकार के विषय वाली चित्तवृत्ति ही प्रमाण है। इसी चित्तवृत्ति से पौरुषेयबोध, प्रमा की उत्पत्ति होती है। अतः प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान की प्रधान साधिका होने के कारण यह चित्तवृत्ति ही प्रमाण है—

**'तच्च(प्रमाणं) असंदिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्त-वृत्तिः। बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणम्'—**

सांख्यकारिका ४ तत्त्वकौमुदी

इस प्रकार सांख्य में चित्तवृत्ति, बुद्धि का निश्चयात्मक परिणाम ही यथार्थ ज्ञान में साधकतम होने के कारण प्रमाण है। अतः इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अनन्तर बुद्धि का विषयाकार परिणाम प्रत्यक्ष, व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न बुद्धि का विषयाकार परिणाम अनुमान तथा आप्त वाक्य से उत्पन्न बुद्धि का विषयाकार परिणाम आगम प्रमाण

है। इस तरह यहाँ पर बुद्धि का व्यापार होने के कारण प्रमाण का स्वरूप बोध रूप है।

'इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणं फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः।...सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र, स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात् तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः'—

योगसूत्र १।७ व्यासभाष्य

इस रूप से प्रमाण के स्वरूप के संबन्ध में सांख्य का अन्य दर्शनों से स्पष्ट मतभेद है। यथा न्याय के समान प्रत्यक्ष प्रमाण जन्य प्रमा के विषय में यहाँ पर साधकतम चक्षुश्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ नहीं, अपितु चित्तवृत्ति अथवा बुद्धिव्यापार ही मुख्य साधन है। प्रमा की उपलब्धि में इन्द्रियों का स्थान गौण है।

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥

सांख्यकारिका ३५

फिर भी इन्द्रियों की सहायता के बिना बुद्धि व्यापार असंभव है। विषय के ग्रहण करने में समर्थ होने पर भी बुद्धि अपने व्यापार के लिये इन्द्रियों की अपेक्षा रखती ही है। यथा जलाशयस्थ जल क्षेत्र तक पहुँचने के लिये प्रणालिका की आवश्यकता रखता है तथा घटस्थ दीप बाह्य वस्तुओं के प्रकाशन हेतु घटस्थ छिद्रों की सहायता चाहता है। यद्यपि दीप अपने प्रकाश द्वारा वस्तुओं को प्रकाशित करने में समर्थ है। किंतु घट से आवृत होने के कारण वह अपने प्रकाशन रूप व्यापार में असमर्थ रहता है। पर घट में छिद्र होने से उन्हीं छिद्रों द्वारा बहार

निकल कर वह अपना कार्य संपन्न करने में सक्षम होता है। इस प्रकार प्रकाशन रूप कार्य के प्रधान साधन दीप को अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये अप्रधान साधन घटस्थ छिद्रों की आवश्यकता पड़ती ही है। इसी तरह प्रमा के मुख्य साधन चित्तवृत्ति को भी गौण साधन इन्द्रियों की अपेक्षा होती ही है। विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होने पर भी बुद्धि तमो गुण से आच्छादित होने के कारण अपने व्यापार में निष्क्रिय रहती है, विषयों तक नहीं पहुँच पाती। किंतु वही बुद्धि इन्द्रियों की सहायता प्राप्त कर, वस्तु तक पहुँच कर उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेती है। विषय के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष होने पर बुद्धिगत तमो गुण की न्यूनता, साथ ही सत्त्वगुण की प्रबलता होती है। प्रकाशक रूप सत्त्व गुण के उद्रेक से बुद्धि इन्द्रियों के माध्यम से विषय को प्राप्त कर, तदाकाराकारित अर्थात् विषय के ही आकार की हो जाती है। यही बुद्धि का व्यापार, अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञान है, जिसे प्रमाण कहते हैं—

उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते। इदं तत्प्रमाणम्। अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः—

सांख्यकारिका ५ तत्त्वकौमुदी

'यथा स्वभावतश्चलनशीलमपि जलाशयस्थं सलिलं निर्गममार्गासत्त्वरूपप्रतिबन्धकबलात् स्वयं क्षेत्रमनुपसर्पदपि छिद्रे सति तद्द्वारा निर्गत्य कुल्यात्मना क्षेत्रमुपसृत्य केदाराकारेण परिणमते, तथा स्वभावतः सर्वार्थग्रहणसमर्थमपि बुद्धितत्त्वं तमसा प्रतिबद्धं सत्स्वयं विषयमनुपसर्पदपीन्द्रियार्थसन्निकर्षादिना तमो निरासे इन्द्रियप्रणालिकया विषयमुपसृत्य तदाकारेण परिणमते। योऽयं बुद्धितत्त्वस्य विषयाकारपरिणामः, स एव

अध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति प्रमाणमिति चाभिधीयते'
सांख्यकारिका ५ विद्वत्तोषिणी

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सांख्य में प्रमाण दीप स्थानीय चित्तवृत्ति है, न कि घटस्थ छिद्र स्थानीय इन्द्रियाँ। जैसे वस्तु प्रकाशन रूप क्रिया दीप द्वारा संपन्न होती है, न कि घट में विद्यमान छिद्रों द्वारा। उसी प्रकार विषय की ज्ञान प्राप्ति चित्तवृत्ति द्वारा ही होती है, न कि इन्द्रियों द्वारा। तथापि इन्द्रियों का साहाय्य बुद्धि को नितान्त अपेक्षित है। इस तरह चित्तवृत्ति प्रधान तथा इन्द्रियाँ अप्रधान कारण हुईं। अतः प्रमा का साधकतम, मुख्य कारण होने के कारण चित्तवृत्ति ही प्रमाण है, न कि चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रियाँ।

इसी प्रकार अपने व्यापार द्वारा प्राप्त तदाकाराकारित, अध्यवसाय, निश्चयात्मक ज्ञान को बुद्धि अपने में प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष को समर्पित कर देती है। अनुग्रह रूप बुद्धि द्वारा प्राप्त, पुरुष द्वारा गृहीत यही ज्ञान पौरुषेय बोध है, प्रमा है तथा यही प्रमाण का फल है। इस प्रकार सांख्य मत में प्रमाण केवल बोधरूप, ज्ञान स्वरूप है और यह बोध विषयाकार परिणाम के स्वरूप का होने के कारण एकमात्र बुद्धि का ही धर्म है, इन्द्रिय का नहीं। इन्द्रियों के अभाव में समस्त अर्थों के ग्रहण में समर्थ बुद्धि तमो गुण से प्रतिबद्ध होने से विषय तक पहुँच कर उसका प्रकाशन नहीं कर पाती। अतः बुद्धि व्यापार ही प्रमा की उत्पत्ति में करण होने से प्रमाण है। बुद्धि निष्ठ इसी ज्ञान को चेतन पुरुष उसमें प्रतिबिम्बित होता हुआ अपने में उपचरित कर लेता है और उस ज्ञान से युक्त हो जाता है, तब यही पुरुषनिष्ठ ज्ञान, पौरुषेयबोध, प्रमा या प्रमाण का फल बन जाता है।

'पौरुषेयो बोध इत्यनेन न बोधस्य पुरुषनिष्ठत्वमाख्यायते येन [प्रमातृत्वादिधर्मेण पुरुषस्य परिणामित्वं स्यादपितु बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेन

तत्तादात्म्यापत्त्या पुरुषस्य ज्ञानादिमत्त्वोपचारात् पौरुषेय इत्यभिधीयते एवं च चितिचित्तयोरभेदग्रहात् पुरुष उपचर्यमाणोऽपि वस्तुतो बुद्धि-वृत्त्यात्मक एव बोधो न पुरुषधर्म इति—

सांख्यकारिका ४ विद्वत्तोषिणी

यद्यपि पुरुष त्रिगुणातीत पुष्कर पलाशवत् असङ्ग निर्लिप्त, निर्विकार, नित्य कूटस्थ एवं अपरिणामी है, स्वभावतः वह उदासीन द्रष्टा चेतनमात्र है तथापि स्वच्छ स्फटिक एवं रक्त जपाकुसुम के संयोग के समान पुरुष भी बुद्धिगत समस्त धर्मों से युक्त हो जाता है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर उसके साथ तादात्म्य ग्रहण कर उसके विषयों को ग्रहण कर लेता है। अनादि अविद्या के कारण ही चेतनाचेतन रूप सर्वथा भिन्न, विलक्षण पुरुष एवं प्रकृति में संयोग होता है और बुद्धि के संबन्ध से बुद्धि की वृत्ति के अनुरूप पुरुष भी देखने वाला बन जाता है और बुद्धि में रहने वाले विषयों को अपने लिये समझ कर उनका उपभोग करता है—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता— योगसूत्र २।६

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः—

योगसूत्र २।२०

यही बुद्धि का अनुग्रह है। अनुगृहीत पुरुष की छाया से बुद्धि तथा उसका अध्यवसाय भी चेतन हो जाता है। इस रूप से बुद्धि भी पुरुष का अनुग्रह प्राप्त करती है—

"बुद्धितत्त्वं हि प्राकृतत्वादचेतनमिति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनः घटा-दिवत्। एवं बुद्धितत्त्वस्य सुखादयोऽपि परिणामभेदा अचेतनाः। पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः। सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञान-सुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति

चेतनोऽनुगृह्यते । चितिच्छायापत्त्याऽचेतनाऽपि बुद्धिस्तदध्यवसायोऽप्यचेतनश्चेतनवद्भवतीति—

सांख्यकारिका ५ तत्त्वकौमुदी

पुरुष-बुद्धि के परस्पर सम्बन्ध के विषय में आचार्य विज्ञानभिक्षु परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव स्वीकार करते हैं। दोनों का ही प्रतिबिम्ब एक दूसरे में पड़ता है, किन्तु पं० वाचस्पति मिश्र के अनुसार केवल पुरुष का ही प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है।

सांख्यदर्शन मुख्य रूप से प्रमेयशास्त्र है। किंतु प्रमेयों की सिद्धि. स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्रमाण द्वारा ही होता है। अतएव प्रमाण-मीमांसा पूर्वक प्रमेयों का प्रतिपादन इसमें किया गया है। अतः सांख्य शास्त्र को प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तवचन रूप से तीन ही प्रमाण अभिमत हैं। क्योंकि उपमान, अर्थापत्ति, सभव, ऐतिह्य आदि प्रमाणों का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥

सांख्यकारिका ४

## १—प्रत्यक्ष प्रमाण—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् अर्थात् विषय से संबद्ध इन्द्रिय पर आश्रित अध्यवसाय, बुद्धि का व्यापार अथवा निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अर्थ के साथ चक्षुश्रोत्र आदि इन्द्रियों का संनिकर्ष होने पर बुद्धिगत तमो गुण का अभिभव साथ ही उसमें सत्त्व गुण की प्रबलता होती है। इस प्रकार इन्द्रियों की सहायता से बुद्धि विषय तक पहुँच कर उसी के आकार की हो जाती है। विषय से संयुक्त इन्द्रिय पर होने वाला यही अध्यवसाय, बुद्धि का व्यापार या

निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है तथा पौरुषेय बोध इस प्रमाण का फल या प्रमा है। दृष्ट पदार्थों के संबन्ध में अर्थ के साथ इन्द्रियों का संनिकर्ष होने पर सर्वप्रथम इन्द्रियों की आलोचन वृत्ति, संमुग्ध ज्ञान होता है, उस पर मन का संकल्प-विकल्प रूप व्यापार होता है और उसके पश्चात् उसी विषय पर अहंकार की अभिमान वृत्ति होती है और अन्त में अध्यवसायात्मिका बुद्धि का निश्चयात्मक व्यापार होता है।

**युग पच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।**
**दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः॥**

सांख्यकारिका ३०

इस प्रकार इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के सहयोग से बुद्धि विषय कार परिणाम को प्राप्त करती है और इस प्रकार गृहीत अपने अध्यवसा-यात्मक ज्ञान को वह अपने में प्रतिबिम्बत पुरुष को समर्पित कर देती है। यही पौरुषेय बोध, प्रमेय का संशयविपर्ययरहित निश्चयात्मक ज्ञान है।

## २—अनुमान प्रमाण—

अनुमानं लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् अर्थात् अनुमान व्याप्य एवं व्यापक के ज्ञान से उत्पन्न होता है। निश्चित एवं सन्दिग्ध उपाधि के बिना ही जिस वस्तु का स्वभावतः साहचर्य या अविनाभाव संबन्ध होता है उसे व्याप्य कहते हैं तथा जिसके साथ वह संबन्ध होता है, उस द्वितीय वस्तु को व्यापक कहते हैं। इस प्रकार दो वस्तुओं, व्याप्य एवं व्यापक के साहचर्य संबन्ध अथवा व्याप्ति ज्ञान के अनन्तर पक्ष में व्याप्य, लिङ्ग या हेतु का ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है। पक्ष में इसी व्याप्य के ज्ञान के बाद पक्ष में ही व्यापक का ज्ञान होना ही अनुमिति है।

यथा धूम का बिना किसी उपाधि के स्वभावतः अग्नि के साथ संबन्ध होता है। इसी को अबिनाभाव या साहचर्य संबन्ध अथवा व्याप्ति कहते हैं-यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति। यहाँ पर धूम व्याप्य तथा वह्नि व्यापक है। इन दोनों के साहचार्य संबन्ध का ज्ञान पाकशाला इत्यादि में होता है। व्याप्य-व्यापक की इसी व्याप्ति ग्रहण के बाद पक्ष पर्वत, वन इत्यादि में लिङ्ग हेतु, व्याप्य का ज्ञान होने से वहाँ पर भी वह्नि की अनुमिति होती है। इस प्रकार लिङ्ग तथा लिङ्गी के साहचर्य संबन्ध के ज्ञान के अनन्तर पुनः पक्ष में लिङ्ग का ज्ञान होना ही अनुमान प्रमाण है और इसी के द्वारा यहाँ पक्ष पर्वत, वनादि में वह्नि का ज्ञान ही अनुमिति अथवा अनुमान प्रमाण का फल है।

## भेदः

प्रथमतः वीत एवं अवीत रूप से अनुमान प्रमाण के दो भेद होते हैं। अन्वय व्याप्ति के द्वारा प्रवृत्त होकर व्यापक की पक्ष में सिद्धि करने वाला अनुमान वीत अनुमान है, तथा व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा प्रवृत्त होकर पक्ष में व्यापक की सत्ता का निषेध करके पक्ष में ही व्याप्य को भी असिद्ध करने वाला अनुमान अवीत अनुमान है। वीत अनुमान के पूर्ववत् तथा सामान्यतोदृष्ट दो प्रकार होते हैं। अवीत अनुमान को शेषवत् कहते हैं। इस प्रकार अनुमान के त्रिविध प्रकार हैं-

## १—पूर्ववत्-

दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम् - अर्थात् पूर्ववत अनुमान के द्वारा किसी विषय के सामान्य रूप का ही ज्ञान होता है जिसका विशिष्टरूप अथवा व्यक्तिगत स्वरूप पहले प्रत्यक्ष हुआ रहता है। यथा धूम हेतु के द्वारा पक्ष पर्वत में अग्नि सामान्य की अनुमिति होती है जिस अग्नि

का विशिष्टरूप पूर्वकाल में व्याप्तिग्रहण करते समय पाकशाला में देखा गया रहता है अर्थात् वह अग्नि किस रूप, आकार, परिमाण इत्यादि की है। इस प्रकार पूर्ववत् अनुमान का विषय सामान्य ही है, विशेष नहीं।

## २–सामान्यतोदृष्ट–

अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम् अर्थात् सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा किसी पदार्थ के सामान्य रूप का ही ग्रहण होता है जिसका व्यक्तिगत या विशिष्ट रूप पहले नहीं देखा गया रहता। यथा रूपरसगन्ध आदि का ज्ञान क्रिया होने से इनके करण, मुख्य साधन चक्षु जिह्वा, घ्राण इत्यादि इन्द्रियों का ज्ञान होता है। किन्तु करण रूप इन इन्द्रियों का अपना विशिष्ट रूप कभी भी पहले प्रत्यक्ष नहीं हुआ रहता। यथा-लेखन इत्यादि क्रिया के साधन लेखनी का विशिष्ट रूप पहले देखा गया रहता है। रूपरसगन्धस्पर्शशब्द आदि का ज्ञान क्रिया होने से इनके करणभूत इन्द्रियों का अनुमान होता है। किंतु कभी भी इन इन्द्रियों का व्यक्तिगत प्रकार पृथक् रूप से किसी भी साधन से कहीं अन्यत्र नहीं देखा गया रहता।

## ३—शेषवत्–

इस अनुमान का विषय शेष या अवशिष्ट है। शेष बचे हुये में ही किसी वस्तु का ज्ञान करना शेषवत् अनुमान है। न्यायदर्शन के अनुसार – प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसंगात् शिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेषः – न्यायभाष्य १।१।५

किसी वस्तु की जहाँ कहीं पर भी प्रसक्ति, संभावना हो, वहाँ पर प्रतिषेध, निराकरण होने पर तथा अन्यत्र उसकी संभावना भी न होने पर शेष बचे हुये पदार्थ में ही उसका ज्ञान करना शेषवत् अनुमान

है। यथा शब्द गुण है। गुण होने के कारण किसी द्रव्य में ही आश्रित होना चाहिये। किंतु आत्मा-मन-काल-दिक् तथा पृथिवी-जल-तेज-वायु इत्यादि ८ द्रव्यों में यह नहीं है और द्रव्य से भिन्न तत्त्वों में यह रह नहीं सकता, क्योंकि गुण सदैव द्रव्य में ही समवाय संबन्ध से रहता है। अतः शेष बचे हुये आकाश रूप नवम द्रव्य में शब्द की स्थिति का अनुमान करना ही शेषवत् अनुमान है।

## ३—शब्दप्रमाण—

'आप्तश्रुतिराप्तवचनम्' अर्थात् आप्त वाक्य जन्य ज्ञान ही आप्त-वचन या आगम प्रमाण है। निर्दोष यथार्थ वक्ता के वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान ही आगम प्रमाण है। वेद अपौरुषेय हैं। अतएव संशय-विपर्यय-मिथ्या इत्यादि समस्त दोषों से रहित होने के कारण वेद के वाक्य आप्त, युक्त हैं। इसी प्रकार श्रुतिमूलक स्मृति-इतिहास-पुराण के वाक्य भी आप्त हैं। इसी तरह भगवान् कपिल आदि महर्षियों के वचन भी आप्त हैं। इन्हीं वाक्यों से उत्पन्न वाक्यार्थ-ज्ञान, विषयाकार अध्यवसायात्मिका बुद्धि का परिणाम शब्द प्रमाण है। यह वाक्यार्थज्ञान स्वरूप शब्द प्रमाण स्वतः प्रमाण है। यह प्रबलतम प्रमाण है। अपने प्रामाण्य के लिए किसी की अपेक्षा न रखने के कारण यह निरपेक्ष रूप से स्वतन्त्र प्रमाण है।

## अन्यप्रमाणखण्डन

❀

सांख्यदर्शन को केवल तीन ही प्रमाण मान्य हैं। अन्य दर्शनसम्मत प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है। यथा न्यायनय द्वारा पृथक् रूप से स्वीकृत उपमान प्रमाण का समावेश आगम प्रमाण में ही हो जाता है। 'आप्तश्रुतिराप्तवचनम्' लक्षण के अनुसार यदि 'यथा

गौस्तथा गवयः' आप्त वाक्य है, तो इस युक्त वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थज्ञान आगम प्रमाण ही हो जायेगा। यह उपमान प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत भी आ जाता है। यथा 'गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः' यह प्रतीति अनुमान ही है। क्योंकि व्युत्पन्न पुरुष के द्वारा जिस शब्द का प्रयोग जिस पदार्थ को बतलाने के लिये किया जाता है, वह शब्द लक्षणा-व्यञ्जना वृत्तियों के अभाव में अभिधा वृत्ति के द्वारा केवल उसी पदार्थ का वाचक होता है, अन्य का नहीं। जैसे गोत्व पदार्थ के लिये प्रयुक्त गोशब्द अन्य वृत्तियों की अनुपस्थिति में अभिधा वृत्ति से केवल उसी गोत्व पदार्थ का ही ज्ञान करायेगा। इसी प्रकार गोसदृशपिण्ड के लिये प्रयोग किया गया गवयशब्द भी गोसदृशपिण्ड का ही वाचक होगा। इस प्रकार हेतु विद्यमान होने पर यह अनुमान प्रमाण ही है। इसी तरह प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी उपमान प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि हो जाती है। यथा चक्षुसन्निकृष्ट गवय का गोसदृश ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। क्योंकि दोनों ही पदार्थों में सादृश्य समान है और जिस तरह से चक्षु इत्यादि इन्द्रियों द्वारा किसी पदार्थ-विशेष का प्रत्यक्ष होने पर उसी इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा उस पदार्थ म रहने वाले सामान्य का प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी तरह उसी इन्द्रिय से उसमें विद्यमान सादृश्य का भी प्रत्यक्ष हो जायेगा। अतः गवय में जो सादृश्य है, वह गोपिण्ड के उपस्थित न रहने पर भी केवल गवय की ही उपस्थिति से प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा गृहीत हो जायेगा। इस प्रकार उपमान प्रमाण का कोई पृथक् रूप से स्वतंत्र प्रमेय न होने के कारण इसको एक स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार करना समीचीन नहीं है।

इसी तरह मीमांसकों द्वारा मान्य अर्थापत्तिप्रमाण की भी सिद्धि अनुमान प्रमाण से हो जाती है। 'जीवित चैत्र अपने गृह में विद्यमान नहीं है, उसी के बहिर्भाव की कल्पना करना ही अर्थापत्ति है।

अनुमान के आधार पर इस प्रमेय की सिद्धि हो जाती है। यथा—

**'यदा खल्वव्यापकः सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति, यदाऽव्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्ति'**

अर्थात् जो वस्तु सत् है और अव्यापक है, यदि वह इस स्थान पर नहीं है तो वह अवश्य ही दूसरे स्थान पर होगी और यदि वही वस्तु इस स्थान पर है तो निश्चत रूप से वह अन्यत्र नहीं हो सकती। इसी अनुमान के आधार पर जीवित चैत्र के बहिर्भाव की सिद्धि होती है। गृहाभावदर्शन ही इस अनुमान में हेतु है। क्योंकि चैत्र जीवित है, सत् है और अव्यापक है। इसलिये यदि वह अपने गृह में नहीं है, तो अन्यत्र बाहर कहीं अवश्य ही होगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं आगम प्रमाण में विद्यमान विरोध के परिहारार्थ मीमांसक द्वारा स्वीकृत अर्थापत्ति प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि अनुमान से हो जाने के कारण अर्थापत्ति नामक अनर्थक स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करना उपयुक्त नहीं है।

**अभाव**—अभाव प्रमाण के प्रमेय की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जाने के कारण अभाव नामक एक भिन्न प्रमाण मानना उचित नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय से संनिकर्ष होने पर भूतल का प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी प्रकार घटाभाव विशिष्ट भूतल का भी प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण हो जायेगा। क्योंकि निष्केवल भूतल तथा घटाभाव विशिष्ट भूतल दोनों ही समान हैं, तादात्म्य रूप हैं और दोनों का ही ज्ञान चक्षु इन्द्रिय से हो जायेगा।

**संभव**—खारी, एक मापविशेष में स्थित द्रोण-आढक-प्रस्थ इत्यादि अल्प परिमाणों का ज्ञान कराने वाले 'संभवप्रमाण' का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में ही है। क्योंकि लघु परिमाणों के योग से ही

बृहत् माप की सिद्धि होती है। प्रस्थ-आढक-द्रोण के योग बिना खारी की सिद्धि ही नहीं हो सकती। अतः खारी अपने में व्याप्त द्रोण इत्यादि लघु परिमाणों की अनुमिति कराती है।

ऐतिह्य—'इति होचुर्वृद्धाः' 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इत्यादि वाक्यों को ऐतिह्य प्रमाण स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि इसमें वक्ता का निर्देश नहीं है। अतः यह कथन संदेहास्पद है और संशय-विपर्यय-मिथ्या-रूप ज्ञान कभी भी प्रामाणिक नहीं होता और यदि यह यथार्थ वक्ता का कथन है तो 'आप्तश्रुतिराप्तवचनम्' के अनुसार यह आगम प्रमाण ही होगा। इस प्रकार विषय के अभाव में ऐतिह्य नामक पृथक् प्रमाण की सत्ता नहीं है।

अतः सांख्यसिद्धान्त को प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तवचन नामक तीन ही प्रमाण अभिमत हैं, शेष अन्य प्रमाणों का समावेश इन्हीं के अन्तर्गत है। इसलिये सांख्य की दृष्टि में 'त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्' उक्ति समीचीन ही है।

———

# सत्कार्यवाद

सांख्य दर्शन को प्रकृति एवं पुरुष दो ही मूल तत्त्व अभिमत हैं जो अनादि, नित्य, शाश्वत तथा विभु हैं। प्रकृति अचेतन तथा पुरुष चेतन है। पुरुष के संयोग से सतत परिणामिनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति से समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। सभी कार्यों की प्रकृति ही मून कारण है। सृष्टि का अभिप्राय प्रकृति में अव्यक्त रूप से विद्यमान स्थूल एवं सूक्ष्म, स्थावर एवं जङ्गम अशेष कार्यों का व्यक्त हो जाना ही है। कारण में निहित कार्य का आविर्भाव ही कार्य की उत्पत्ति तथा पुनः उसका कारण में तिरोभाव कार्य का विनाश है। अतः सांख्य सिद्धान्त में मूल कारण प्रकृति में पूर्व से सद् रूप में स्थित कार्यों की अभिव्यक्ति ही सृष्टि नाम से अभिहित की जाती है।

## कारणकार्यसिद्धान्त—

सृष्टि के स्वरूप के विषय में अथवा कारणकार्यसिद्धान्त के संबन्ध में अनेक मत उपलब्ध होते हैं। पर यह सर्वत्र मान्य सिद्धान्त है कि कार्य की उत्पत्ति कारण से ही होती है और उस कार्य को देखकर कारण की सत्ता का अनुमान होता है। किन्तु इनके स्वरूप के विषय में विविध मत हैं। घट रूप कार्य की स्थिति अनेक प्रयास के बाद देखी जाती है। इसके लिए समवायि-असमवायि-निमित्त कारणों की अपेक्षा होती है। मृत्तिका पिण्ड, कुलाल, चक्र, दण्ड, रासभ इत्यादि विविध प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता घट के आविर्भाव के लिए होती है। इसके उद्भव के लिये बहुविध प्रयत्न किये जाते हैं। यदि सांख्यसम्मत घटकार्य को अपने कारण मृत्तिका पिण्ड में पूर्व से

ही विद्यमान मान लिया जाय, तो यह सारा परिश्रम, उद्योग निष्फल, निष्प्रयोजन ही है। किंतु कार्य के भाव के लिये कारण व्यापार की अपेक्षा होती ही है। अतः यहाँ पर कार्य के आविर्भाव, उत्पत्ति का क्या अभिप्राय है? यदि कारणकार्य अभिन्न हैं, दोनों में कोई भेद नहीं है, तो फिर किस प्रकार उनके नाम एवं प्रयोजन में भेद प्राप्त होता है। यदि दोनों में आकार भेद मान लिया जाय तो इस प्रकार भी सिद्ध होता है कि कारण की अपेक्षा कार्य विशिष्ट होता है, उसमें कुछ विशेषता की उत्पत्ति हो गई है, जो कारण में नहीं है। इस प्रकार कारण कार्य संबन्ध के विषय में अनेक समस्यायें, विविध धारणायें विद्यमान हैं। इस संबन्ध में प्रधान रूप से चार प्रमुख सिद्धान्त हैं—

१—असतः सज्जायते-बौद्धाः। २—सतः असज्जायते-नैयायिकाः।

३—एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत्-वेदान्तिनः।

४—सतः सज्जायते—सांख्याः।

## १—असतः सज्जायते—

शून्यवादी बौद्ध का मत है कि असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है अर्थात् कारण के विनष्ट हो जाने पर ही कार्य उत्पन्न होता है। यथा कारण बीज के विनाश के अनन्तर ही कार्य अंकुर तथा कारण मृत्तिका पिण्ड के नष्ट हो जाने पर ही काय घट की उत्पत्ति देखी जाती है। जब तक कारण बीज एवं मृत्तिका पिण्ड सत्, विद्यमान हैं, तब तक कार्य अंकुर एवं घट की उत्पत्ति संभव ही नहीं है। अतः सिद्ध है कि कारण के विनाश के बाद अर्थात् असत् कारण से ही सत् कार्य की उत्पत्ति संभव है।

## २—सतः असज्जायते—

न्यायवैशेषिक मत के अनुसार कारण सत्, नित्य है तथा उससे असत्, अभिनव कार्य की उत्पत्ति होती है। यथा परमाणु अपने में

अविद्यमान द्व्यणुक इत्यादि नये कार्यों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार नित्य परमाणु, अर्थात् सत् कारण से पूर्व से अविद्यमान नवीन घट इत्यादि असत् कार्यों की उत्पत्ति होती है। उत्पन्न होने वाले कार्य पहले से अपने कारण में स्थित नहीं रहते, अपितु कारण व्यापार द्वारा उनकी अभिनव उत्पत्ति होती है। यही न्यायवैशेषिक का अभिनववाद है। इस सिद्धान्त के अनुसार सत् कारण से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है।

## ३—एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत्—

अद्वैत वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्, नित्य है। समस्त जगत्, यह निखिल सृष्टि उसी का विवर्त या अतात्त्विक परिणाम है। इसकी सत्ता केवल प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक है, पारमार्थिक अथवा वास्तविक नहीं। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' यह वेदान्त का अभिमत सिद्धान्त है। माया जनित अविद्या द्वारा ही नित्य ब्रह्म में आरोपित इस अनित्य जगत् की प्रतीति होती है। यथा रज्जु में सर्प तथा शुक्ति में रजत की प्रतीति अज्ञान अथवा भ्रम के कारण ही होती है। किंतु ज्ञान के आलोक से इस मिथ्या प्रतीति का निराकरण हो जाने पर रज्जु एवं शुक्ति का यथार्थ स्वरूप सुस्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्या का विनाश हो जाने पर माया का आवरण दूर हो जाता है। इसलिये शुद्ध केवल सद् ब्रह्म में आरोपित, कल्पित इस जगत् की प्रतीति भी निरस्त हो जाती है। अतः वेदान्त मत में यह जगत् सद् ब्रह्म का विवर्त ही है, उससे पृथक् कुछ भी नहीं तथा इसकी सत्ता भी वास्तविक नहीं, किंतु अभासमात्र, मिथ्या ही है।

## ४—सतः सज्जायते—

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार सत् कारण से सत् कार्य की ही

उत्पत्ति होती है अर्थात् सत् कारण में वह उत्पाद्य कार्य कारण व्यापार से पहले ही अव्यक्त एवं सद् रूप में विद्यमान रहता है। कारण व्यापार से केवल उस कार्य की अभिव्यक्ति ही होती है। कारण में ही सद् रूप से रहने वाले कार्य का उद्भूत हो जाना ही कार्य की उत्पत्ति तथा पुनः अपने उसी कारण में विलीन हो जाना ही कार्य का विनाश है। 'नाशः कारणलयः' सां० सू० १।१२१। उत्पत्ति का अभिप्राय अव्यक्त से व्यक्त होना तथा विनाश का अर्थ पुनः व्यक्त से अव्यक्त स्वरूप को प्राप्त करना ही है। इस मत में सत्कार्य का कभी भी विनाश नहीं होता। साथ ही जो कार्य असत् है अर्थात् अपने कारण में पहले से विद्यमान नहीं है, उसकी उत्पत्ति भी कभी संभव नहीं है। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' गीता २।१६ का यह सिद्धान्त सांख्य को अभिमत है। इस मत में कारण एवं कार्य दोनों ही अभिन्न, तादात्म्य रूप हैं। कारण की व्यक्तावस्था कार्य तथा कार्य की अव्यक्तावस्था ही कारण है। दोनों में नाम, रूप, आकार, धर्म इत्यादि का ही भेद है, तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। एक ही पदार्थ की दोनों भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं।

## पर मत प्रत्याख्यान–

यदि बौद्धनय के अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, तो इस जगत् को कभी भी शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध विषयक, पाञ्चभौतिक, त्रिगुणात्मक, सुखदुःखमोह स्वरूप वाला नहीं होना चाहिये। क्योंकि कार्य सदैव कारण के गुण वाला होता है। अतः असत् कारण से असत् कार्य की ही उत्पत्ति होनी चाहिये। किंतु यह जगत् सत् है, शब्दस्पर्श इत्यादि विषयों वाला एवं सुखदुःखमोह प्रदान करने वाला है। इसलिये कभी भी असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति सभव ही नहीं है, क्योंकि दोनों में तादात्म्य, एकरूपता, परस्पर संबन्ध का सर्वथा अभाव है। यद्यपि कारण बीज एवं मृत्तिका पिण्ड के

प्रध्वंस के पश्चात् ही कार्य अङ्कुर एवं घट की प्राप्ति होती है, तथापि कार्य की इस उत्पत्ति में कारण का असत् रूप, अभाव हेतु नहीं है, अपितु कारण का सद् रूप, भाव ही हेतु है। यदि असत् अथवा अभाव को ही कारण के रूप में स्वीकार कर लिया जाय, तो यह असत् सर्वत्र सभी काल में सुलभ होगा। अतः सर्वत्र सदैव सभी प्रकार के कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये, पर ऐसा कभी भी नहीं होता—

**नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः–सां० सू० १।७८**

साथ ही सभी असत्, कारण रूप अभाव समान हैं। अतः कार्य में भेद नहीं होना चाहिये तथा किस कार्य का कौन सा कारण है, इसका भी निर्णय नहीं होना चाहिये। बीज का अभाव, मृत्तिका पिण्ड का अभाव, हेमपिण्ड का अभाव, तन्तु का अभाव असत् रूप होने से सभी समान हैं। अतः पट कार्य का कारण इनमें से किस कारण का असत् रूप है, यह निश्चय करना संभव नहीं। कारण एवं कार्य में परस्पर सबन्ध होता है और यह संबन्ध सदैव सत् पदार्थों में ही सभव है—

**भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः**

सां० सू० १।८०

अतः सत्कार्य की उत्पत्ति सदैव सत्कारण से होती है, कभी भी असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

**'यदि पुनरसतः सज्जायेत, असन्निरुपाख्यं कारणं सुखादिरूपशब्दाद्यात्मकं कथं स्यात्? सदसतोस्तादात्म्यानुपपत्तेः'**

सां० का० ९ प्राक्कथन-तत्त्वकौमुदी

**'यद्यपि बीजमृत्पिण्डादिप्रध्वंसानन्तरमङ्कुरघटाद्युत्पत्तिरुपलभ्यते तथापि न प्रध्वंसस्य कारणत्वम् अपितु भावस्यैव**

बीजाद्यवयवस्य। अभावात्तु भावोत्पत्तौ तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वदा सर्वकार्योत्पादप्रसङ्गः'

सां० का० ९ तत्त्वकौमुदी

'नह्यनन्वयविनष्टयोः शालियवबीजयोः कश्चिद्विशेषोऽस्ति येनैकस्माच्छाल्यङ्कुरो नान्यस्मात्'

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका—वाचस्पतिमिश्रः

'यद्येनानन्वितं न तत्तस्य विकारो यथा घटशरावोदञ्चनादयो हेम्नाऽनन्विता न हेमविकारा अनन्विताश्चते विकारा अभावेन तस्मान्नाभावविकाराः, भावविकारास्तु ते, भावस्य तेनाऽनन्वितत्वात्'

भामती—वाचस्पतिमिश्रः

इसी प्रकार न्यायवैशेषिक सम्मत सत् कारण से असत् कार्य की भी उत्पत्ति संभव नहीं है—

'नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवत्' सां० सू० १।११४

सत् से सदैव सत् की ही उत्पत्ति होगी, कभी भी असत् को नहीं। सत् एवं असत् में परस्पर तादात्म्य, एकरूपता का अभाव रहता है। सत् कारण के साथ असत् कार्य का कभी संबन्ध ही उपपन्न नहीं हो सकता। अतः सत् कारण से सत् कार्य का ही आविर्भाव होता है, सत् से असत् का नहीं।

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में एकमात्र ब्रह्म ही सत् एवं नित्य है। यह पाञ्चभौतिक जगत् मिथ्या एवं ब्रह्म का विवर्त है। किंतु वेदान्त का ब्रह्म प्रपञ्चरहित, शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध विहीन है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥

कठोपनिषद् १।३।१५

और यह जगत् शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध विषयों वाला, त्रिगुणात्मक, सुख-दुःखमोह वाला है। अतः अप्रपञ्च रूप ब्रह्म से कभी भी इस प्रपञ्च रूप जगत् का आविर्भाव संभव नहीं है—

नात्माऽविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसङ्गत्वात्'

सां० सू० ५।६५

साथ ही इस जगत् को मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस जगत् प्रतीति का कोई भी बाधक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। यथा शुक्ति में रजत प्रतीति का तथा रज्जु में सर्पप्रतीति का उत्तर काल में यथार्थ ज्ञान से बाध हो जाता है। अतः पूर्वकालिक रजतप्रतीति एवं सर्पप्रतीति को मिथ्या प्रतीति कहते हैं। किंतु ब्रह्म में कल्पित जगत् की प्रतीति का कभी भी बाध नहीं होता। अतः बाधक प्रमाण के अभाव में प्रपञ्चात्मक जगत् को मिथ्या नहीं कहना चाहिये —

'प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुमिति'

सां० का० ६ तत्त्वकौमुदी

'अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम्' सां० सू० १।७९

इस प्रकार यह जगत् सद् रूप है। अपने कारण में अनभिव्यक्तरूप से विद्यमान रहने वाले कार्य की ही अभिव्यक्ति होती है। अतः कार्य सत् ही है और अद्वैत वेदान्त प्रतिपादित विवर्त एवं माया का सिद्धान्त सांख्य की दृष्टि में समीचीन नहीं है।

कारणकार्य सिद्धान्त के विषय में 'सत्कार्यवाद' रूप स्वमत की स्थापना के लिये सांख्य पञ्चविध हेतुओं को प्रस्तुत करता है:--

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

सांख्यकारिका ९

### १--असद् अकरणाद्:--

असत् कार्य की उत्पत्ति न होने से सत्कार्य की सिद्धि होती है। असत् कार्य को कभी भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता अर्थात् कारण व्यापार के पूर्व यदि कारण में कार्य सद् रूप से विद्यमान नहीं है तो उसकी उत्पत्ति कभी भी किसी भी प्रकार से संभव ही नहीं है। कारण व्यापार के पहले भी वह कार्य अपने कारण में अव्यक्त रूप से रहता ही है। क्योंकि असत् कार्य को सत् नहीं किया जा सकता। चूँकि कारण व्यापार के उपरान्त वह कार्य सद् रूप से देखा जाता है, इसलिये निश्चित रूप से कारण व्यापार के पूर्व भी वह कार्य सत् ही रहता है। क्योंकि नीलवर्ण जिसमें पीतवर्ण पूर्व से विद्यमान नही है, उसे कोटि प्रयत्नों द्वारा भी पीत नहीं बनाया जा सकता। इसके विपरीत कारण में पहले से ही स्थित कार्य की अभिव्यक्ति अथवा उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी ही जाती है। यथा अव्यक्त रूप से तिलमें विद्यमान तैलकी प्राप्ति इन्हीं तिलों के पीडन से होती है। इसी प्रकार धान्य में पहले से ही स्थित तण्डुलकण तथा धेनु में अनभिव्यक्त दुग्ध की उपलब्धि होती ही है। अतः सिद्ध होता है कि सत् कारण में पूर्व से ही विद्यमान सत् कार्य की अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि असत् कार्य को उत्पत्ति कभी संभव ही नहीं है।

### २–उपादानग्रहणात्[1]

उपादान का ग्रहण होने से यह सिद्ध होता है कि कारण व्यापार के पूर्व भी कार्य अपने कारण में सत् ही रहता है। कार्य के साथ

---

१ – 'उपादाननियमात्' सां० सू० १।११५

संबद्ध कारण उसी कार्य को उत्पन्न करता है, अन्य को नहीं। जिस कार्य के साथ उस कारण का संबन्ध नही होता, वह कारण उस कार्य को कभी भी उत्पन्न नहीं कर सकता। यथा घट कार्य से घनिष्ठ संबन्ध रखने वाला कारण मृत्तिकापिण्ड सदैव घट को ही उत्पन्न करता है तथा अपने से असंबद्ध पट को नहीं उत्पन्न करता। इस प्रकार कार्य के साथ कारण का संबन्ध होने से सत्कार्य की सिद्धि होती है अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व भी वह कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता ही है। क्योंकि सदैव सत् का सत् के साथ संबन्ध देखा जाता है। कभी भी असत् कार्य का सत् कारण से अथवा सत् कार्य का असत् कारण से संबन्ध हो ही नहीं सकता। सत् पदार्थों का ही परस्पर संबन्ध होता है। अतः कारण का कार्य के साथ संबन्ध होने से कार्य सत् ही है, असत् नहीं।

## ३-सर्वसंभवाभावात्[1]-

सभी की उत्पत्ति का अभाव होने से अर्थात् सभी कार्यों की सभी कारणों से उत्पत्ति न होने के कारण सत् कार्य की सिद्धि होती है। नियत कार्य की अभिव्यक्ति नियत कारण से ही होती है। अनियत रूप से कार्य की उत्पत्ति मानने पर तो अव्यवस्था उपस्थित हो जायेगी और इस प्रकार कारण मृत्तिका पिण्ड से घट, पट, कटक, कुण्डल इत्यादि सभी कार्य उत्पन्न होने लगेंगे। परन्तु इस प्रकार की अव्यवस्था कहीं पर भी देखी नहीं जाती। इसलिये सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न नहीं होते अपितु वे अपने निश्चित संबद्ध कारण से ही उत्पन्न होते हैं। यथा कार्य घट अपने नियत संबद्ध कारण मृत्तिका-पिण्ड से ही उत्पन्न होता है, अनियत, असंबद्ध कारण तन्तु से नहीं। अतः कार्य उत्पत्ति से पूर्व भी अपने कारण में सत् ही रहता है।

१—'सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्' सां० सू० १।११६

## ४—शक्तस्य शक्यकरणात्[१]—

शक्त कारण द्वारा शक्य कार्य की उत्पत्ति होने से सत्कार्य की सिद्धि होती है अर्थात् जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है, वह शक्ति से संपन्न कारण उस ही कार्य को उत्पन्न करता है, किसी अन्य कार्य को नहीं। यथा तैल को उत्पन्न करने वाला कारण तिल कार्य तैल को ही उत्पन्न करता है, घट को नहीं। क्योंकि उस तिल में तैल उत्पादन की ही शक्ति निहित है, घट उत्पन्न करने की नहीं। इस प्रकार समर्थ कारण तिल से कार्य तैल की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत बालुका में तैल उत्पादन की शक्ति विद्यमान नहीं है, इसीलिए बालुकाकण तैल को उत्पन्न करने में भी असमर्थ है। अतः समर्थ कारण से ही कार्य की अभिव्यक्ति होने से यह सिद्ध होता है कि यह उत्पाद्य कार्य उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में ही सद् रूप से विद्यमान रहता है। कारण में तिरोहित, छिपा हुआ कार्य ही उस कारण को शक्ति है और उस शक्ति की अभिव्यक्ति ही कार्य है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि कारण व्यापार के पहले भी कार्य अपने कारण में अव्यक्त, सद्रूप से विद्यमान रहता ही है।

## ५—कारणभावात्[२]—

कार्य का अपने कारण के भाव का होने से भी सत्कार्य की सिद्धि होती है। कार्य सदैव अपने कारण के स्वरूप का ही होता है उससे भिन्न नहीं। चूँकि कारण सत् है। अतएव तद्रूप, तादात्म्यरूप, तदभिन्न कार्य भी सत् ही हुआ। कार्य एवं कारण दोनों अभिन्न, एकरूप ही हैं। दोनों में परस्पर धर्म-धर्मी संबन्ध विद्यमान होने से कार्य-कारण दोनों अपृथक्

---

१—शक्तस्य शक्यकरणात्—सां० सू० १।११७

२—कारणभावाच्च—सां० सू० १।११८

हैं। यथा पट रूप धर्म कार्य तन्तु रूप धर्मी कारण से भिन्न नहीं है। पट तो तन्तुओं की विशेष अवस्था ही है। तन्तुओं में ही समवेत होकर पट उत्पन्न होता है। अतः धर्म-धर्मी सम्बन्ध होने से कार्य पट कारण तन्तु एक रूप ही हैं। उपादेय एवं उपादान भाव होने से भी कार्य पट अपने कारण तन्तु से पृथक् नहीं है। क्योंकि उपादान कारण रूप इन्हीं तन्तुओं से ही कार्य पट की उत्पत्ति हुई है। अतः दोनों तद्रूप हैं। कार्य पट तथा कारण तन्तु में परस्पर संयोग तथा अप्राप्ति ( विभाग ) का अभाव होने के कारण भी दोनों आपस में भिन्न नहीं, अपितु एक रूप हां हैं। पट तथा तन्तु में संयोग संबन्ध तथा विभाग नहीं देखा जाता। अतः दोनों अभिन्न ही हैं। क्योंकि सयोग संबन्ध तथा विभाग परस्पर दो सर्वथा भिन्न पदार्थों में प्राप्त होता है। पट एवं तन्तु में तो समवाय सम्बन्ध है, संयोग संबन्ध नहीं। पात्र एवं बदरीफल के सदृश पट एवं तन्तु में आपस में संबन्ध नहीं हैं। हिमालय तथा विन्ध्य के समान अप्राप्ति का अभाव भी पट तथा तन्तु में विद्यमान है। समवाय संबन्ध होने से पट-तन्तु में विभाग संभव ही नहीं। वे पूर्वतः प्राप्त हैं। पट एवं तन्तु में परस्पर गुरुत्व के अन्तर का ग्रहण न होने से भी दोनों एक रूप हैं। कार्य पट का भार अपने कारण तन्तु के भार के समान ही है। अतः दोनों अभिन्न ही हैं।

इस प्रकार धर्मधर्मी संबन्ध, उपादेय-उपादानभाव, संयोग तथा अप्राप्ति का अभाव एवं गुरुत्व का अन्तर ग्रहण न होने से कार्य पट एवं कारण तन्तु दोनों अभिन्न ही हैं। अतः कारण के स्वरूप का होने से कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में अव्यक्त रूप से स्थित रहता ही है, यह सिद्ध होता है। कारण के सत् होने से उससे अभिन्न कार्य भी सत् ही होता है।

असत् कार्य की अभिव्यक्ति संभव न होने से, कार्य के साथ कारण का घनिष्ठ संबन्ध होने से, सभी कार्य की सभी कारण से उत्पत्ति न

होने से अर्थात् नियत कार्य की नियत कारण से उत्पत्ति होने से, समर्थ कारण से ही कार्य का आविर्भाव होने से तथा कार्य का कारणात्मक होने से सत्कार्य की सिद्धि होती है अर्थात् कारण व्यापार के पूर्व भी कार्य अपने कारण में सद् रूप, अनभिव्यक्त दशा में विद्यमान रहता ही है। केवल कारण व्यापार द्वारा कारण में अव्यक्त रूप से स्थित कार्य की अभिव्यक्ति ही होती है।

'नाभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ'

सां० सू० १।१२०

## परिणामवाद एवं विवर्तवाद—

कारण कार्य सिद्धान्त के संबन्ध में सांख्य की दृष्टि अत्यधिक सूक्ष्म है। सांख्य का यह 'सत्कार्यवाद' कुछ भेद के साथ अद्वैत वेदान्त को भी अभिमत है। परिणाम एवं विवर्त इस सत्कार्यवाद के द्विविध रूप हैं। सत् कारण में पूर्व से ही अनभिव्यक्त रूप में स्थित कार्य की ही अभिव्यक्ति को सांख्य स्वीकार करता है। अद्वैतवेदान्त में एक मात्र ब्रह्म ही सत् है और इसी ब्रह्म में अन्तर्हित समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। यही ब्रह्म जगत् का कारण है और इसीसे विकसित होने के कारण ही इस जगत् की संज्ञा 'सृष्टि' है—√सृज् विसर्गे। अतः ब्रह्म में ही निहित सृष्टि का विकास होता है। इसीलिये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह श्रुति समीचीन ही है। किंतु अभिव्यक्त हुये कार्य को सांख्य सत् नित्य मानता है। कारण के समान कार्य भी वास्तविक है। यही सांख्य का परिणामवाद है। दुग्ध एवं दधि, मृत्तिकापिण्ड एवं घट, तन्तु एव पट, प्रकृति एवं महत्तत्त्व दोनों ही सत् हैं। पर वेदान्त की दृष्टि में कारण ब्रह्म तो नित्य सत् है, किन्तु उससे विकसित नामरूपाकारात्मक जगत् सत् नहीं, आभासमात्र, मिथ्या है। इसकी केवल व्यावहारिक सत्ता है। यह तब तक सत् है, जब तक इसके यथार्थ स्वरूप का

सम्यक् ज्ञान नहीं हो जाता। स्वप्नकालीन जगत् की तभी तक यथार्थता है, जब तक जागरण नहीं हो जाता। यथा स्वप्न का जगत् वस्तुतः असत्, प्रतीति मात्र है। इसी प्रकार जाग्रतकालीन दृश्यमान् अदृश्यमान्, स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चात्मक जगत् स्वरूपतः असत्, प्रतीतिमात्र ही है। यथा अज्ञान के कारण शुक्ति में रजत, रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। वैसे ही ब्रह्म में जगत् का आभास होता है। अद्वैत वेदान्त का यही 'विवर्तवाद' अथवा सत्कार्यवाद है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

इस प्रकार सांख्य के सत्कार्यवाद के अनुसार प्रकृति का सत् परिणाम ही जगत् है। पर अद्वैत वेदान्त के सत्कार्यवाद के अनुसार यह जगत् ब्रह्म का सत् परिणाम नहीं, विवर्त है। इसकी प्रतीति मिथ्या है, यह जगत् इसी अर्थ में अनित्य हैं। अतः 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह श्रुति इस संबन्ध में चरितार्थ होती ही है। सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त के सत्कार्यवाद में परिणाम एवं विवर्त रूप यही मौलिक भेद है। इस निर्गुण निराकार निष्प्रपञ्च ब्रह्म में सगुण साकार सप्रपञ्च रूप जगत् का अध्यारोप उसी प्रकार संभव है, यथा रूप रहित निराकार गगन में नीलत्व, मलिनत्व का आरोप होता है।

कारण कार्य सिद्धान्त के विषय में अद्वैत वेदान्त प्रतिपादित मत सर्वाधिक समीचीन है। तथापि शेष अन्य दर्शनों की तुलना में सांख्य की दृष्टि अधिक सूक्ष्म है। बौद्ध, न्याय-वैशेषिक इत्यादि दर्शन इस सिद्धान्त का विवेचन स्थूल दृष्टिकोण से करते हैं। असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण बीज के विनाश के अनन्तर ही कार्य अङ्कुर की उत्पत्ति होती है। पर प्रस्तुत स्थल में अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना ही बौद्ध दर्शन की सबसे बड़ी

भूल अथवा सामान्य स्थूल दृष्टि है। भाव की उत्पत्ति सदैव भाव से ही होती है, क्योंकि बीज के द्विधा विभक्त हो जाने पर उसके अन्तः में स्थित सारभूत तत्त्व ही अङ्कुर के रूप में उद्भूत होता है और निस्सार वस्तु विनष्ट हो जाती है। अतः भाव से ही कार्य की उत्पत्ति होती है और इसी कारण भाव रूप बीज से अङ्कुर ही उत्पन्न होता है, घट, पट, कटक, कुण्डल इत्यादि नहीं। अभाव, असत् से उत्पत्ति संभव होने पर अभाव रूप सभी कारण समान हैं, अतः सभी कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिये। इसी प्रकार इस सिद्धान्त के विषय में न्याय-वैशेषिक का दृष्टिकोण भी स्थूल ही है। सत् कारण मृत्तिका-पिण्ड से असत् कार्य घट उत्पन्न होता है। इनकी दृष्टि में यह उत्पाद्य कार्य घट अपने कारण मृत्तिकापिण्ड में पूर्वतः विद्यमान नहीं है, अपितु कारण व्यापार द्वारा इसकी अभिनव उत्पत्ति होती है। इसलिये कारण मृत्तिकापिण्ड में न रहने वाले, अर्वाक् दृष्टि से न दिखलाई पड़ने वाले, अतएव असत् कार्य घट की उत्पत्ति होती है। किंतु सूक्ष्म दृष्टि से यह मत समीचीन नहीं है। यह कार्य घट अपने कारण मृत्तिकापिण्ड में पूर्व से विद्यमान रहता ही है अन्यथा इस कारण रूप मृत्तिकापिण्ड से कारण व्यापार द्वारा घट से इतर पट, कटक, कुण्डल इत्यादि कार्यों की उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती? अतः अभिव्यक्ति से पूर्व भी कार्य अपने कारण में अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान रहता ही है। यही 'सत्कार्यवाद' है। सांख्यसिद्धान्त इसी की स्थापना करता है।

—०—

# त्रिविध गुण

**सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिविध गुणों का स्वरूप,**
**प्रयोजन एवं प्रवृत्ति**

❀

सांख्य सिद्धान्त में प्रकृति त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्त्व-रजस्-तमस् स्वरूपा ही है, इनसे भिन्न कुछ भी नहीं। ये त्रिविध गुण प्रकृति के स्वरूप ही हैं, धर्म नहीं। इन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है—

**'प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था'**

सां० का० ३ तत्त्वकौमुदी

**'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'**

सां० सू० १।६१

यही गुण सत्त्व-रजस्-तमस् नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं गुणों के कारण वह प्रकृति सतत परिणामिनी है तथा इसीलिये वह विविध प्रकार की विलक्षण विरूप सृष्टि करने में समर्थ होती है। यह प्रकृति सरूप तथा विरूप द्विविध परिणाम को प्राप्त करती है—

**'सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यते'**

सां० का० ११ तत्त्वकौमुदी

प्रकृति का प्रथम प्रलय कालीन सरूप परिणाम है जो त्रिविध गुणों का सदृश परिणाम है अर्थात् इस दशा में सत्त्व का सत्त्व से, रजस् का रजस् से तथा तमस् का तमस् के साथ सदैव परिणाम होता रहता है। क्योंकि बिना परिणाम के ये गुण एक क्षण मात्र भी स्थिर नहीं रह सकते। परिणाम तो उनका स्वभाव ही है —

'प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणामस्वभावा हि गुणा नाऽपरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते'

सां० का० १६ तत्त्वकौमुदी

प्रकृति के इस सरूप परिणाम में सृष्टि का सर्वथा अभाव रहता है। सृष्टि कालीन प्रकृति का द्वितीय विरूप परिणाम है। इस अवस्था में गुणों में संक्षोभ उत्पन्न होता है। गुणों में परस्पर गुणप्रधानभाव, वैषम्य की स्थिति हो जाती है। कोई एक गुण उत्कर्ष को प्राप्त करता है और शेष दो गुण उसके सहायक बन जाते हैं। इस प्रकार गुणों में परस्पर प्रधानाप्रधान भाव होने से महत्तत्त्व-अहंकार-तन्मात्र इत्यादि क्रम से समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति प्रकृति से होती है —

'तथा च अनागतावस्थपुरुषार्थवशाद् गुणेषु क्षोभो जायते ततश्च तेषु कश्चनः उपसर्जनभूतः कश्चन प्रधानभूत इति सर्वे मिलित्वा महदादिरूपेण प्रवर्तन्ते। सेयं महत्तत्त्वाद्यानुकूला प्रवृत्तिः द्वितीया'

सां० का० १६ सुषमा

## त्रिविध गुणों का स्वरूप एवं आश्रय —

इन त्रिविध गुणों में सत्त्व गुण लघु एवं प्रीत्यात्मक अर्थात् सुख स्वरूप वाला है। रजो गुण चञ्चल एव अप्रीत्यात्मक अर्थात् दुःख स्वरूप वाला है और तमो गुण गुरु तथा विषादात्मक अर्थात् मोह स्व· रूप वाला है। सुखदुःखमोह स्वरूप होने के कारण ये तीनों गुण क्रमशः सुख,दुःख एवं मोह की प्रतीति कराने वाले हैं। प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने के कारण उससे उद्भूत होने वाले सभी कार्य भी त्रिगुणात्मक हैं। अतः इन कार्यों के साथ संबन्ध होने पर सुखदुःखमोह की अनुभूति होती ही है। सुखदुःखमोहात्मक इन त्रिविध गुणों का आश्रय एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं। एक ही पदार्थ में इनका सह अस्तित्व है। इनका आधार पृथक् पृथक् नहीं है। इसीलिये एक ही वस्तु के संसर्ग से विविध पुरुषों को भिन्न-भिन्न रूप से सुख, दुःख तथा मोह की प्राप्ति होती है। जैसे सर्वगुणसंपन्न लावण्यमयी एक ही युवती त्रिविध गुणों का आश्रय होने के कारण ही अपने पति को सुख प्रदान करती है, क्योंकि पति के प्रति उस पत्नी का सुखात्मक सत्त्व गुण ही उद्भूत होता है। वही युवती अपनी सपत्नियों को दुःखी बनाती है, क्योंकि उनके प्रति उसका दुःखात्मक रजो गुण प्रबल होता है। इसी प्रकार वही युवती अन्य पुरुषों में मोह उत्पन्न करती है, क्योंकि उसको न प्राप्त कर सकने वाले पुरुषों के प्रति उसका विषादात्मक तमो गुण ही उत्कर्ष को प्राप्त करता है —

'एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत्कस्य हेतोः ? स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नी-र्दुःखाकरोति, तत्कस्य हेतोः ? ताः प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवात।

एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत्कस्य हेतोः ? तं प्रति तस्याः मोहरूपसमुद्भवात् ।'

सांख्यकारिका १२ तत्त्वकौमुदी

इस प्रकार ये तीनों गुण एक ही पदार्थ में विद्यमान हैं। सुख, दु:ख तथा मोह रूप से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को जो उनका अनुभव होता है, उसमें पुरुषकृत धर्म-अधर्म ही निमित्त कारण हैं। यथा उस युवती के कारण पति को जो सुख की प्राप्ति होती है, वह कान्ताकायगत सुखात्मक सत्त्व गुण के कारण है जो पतिकृत धर्म रूप निमित्त कारण से उत्कर्ष को प्राप्त कर पति के लि सुख रूप में परिणत हो जाता है। सपत्नियों द्वारा पूर्वकृत अधर्म रूप हेतु से युवतीकायगत रजो गुण ही उद्भूत होकर दु ख रूप में परिणत होता है। अतः उनको दुखः की अनुभूति होती है। इसी प्रकार पर पुरुषों के मोह का कारण उसी युवती का कायगत विषादात्मक तमो गुण है। जो उन पुरुषों के पूर्वकृता अधर्म के कारण प्रवल होकर मोह रूप में परिणत हो जाता है और उन पुरुषों को मोह की ही प्राप्ति होती है। अतः सुखदु ख मोह के हेतु एक ही पदार्थ में रहने वाले सत्त्व-रजस्-तमस् गुण ही है, क्योंकि एक ही पदार्थ के संबन्ध में त्रिविध अनुभूति होती है —

'तत्र यत् सुखहेतुस्तत् सुखात्मकं सत्त्वम्, यद् दुःख-हेतुस्तद् दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः ।'

सां० का० १३ तत्त्वकौमुदी

साथ ही सुखदुःखमोह की प्रतीति कराने वाले ये गुण त्रिविध हैं, एक नहीं। क्योंकि तीन प्रकार के फल की प्राप्ति होती है। कार्य के त्रिविध होने से कारण अवश्य ही त्रिविध होगा। यदि एक ही गुण को सुखदुःखमोह का कारण मान लिया जाय तो वस्तु के सम्पर्क से

एक ही काल में सभी व्यक्तियों को सुख, दुःख तथा मोह सभी भावों की अनुभूति होनी चाहिए। किन्तु कभी भी किसी व्यक्ति को एक ही काल में सुखादि सभी भावनाओं का अनुभव नहीं होता। अतः सिद्ध है कि सुख, दुःख तथा मोह को प्रदान करने वाले गुण सत्त्व-रजस्-तमस् रूप से त्रिविध हैं। जो पुरुषकृत धर्म-अधर्म रूप निमित्त से उत्कर्ष को प्राप्त कर सुख, दुःख एवं मोह रूप में परिणत होते हैं—

**'अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति। तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्'।**

सां० का० १३ तत्त्वकौमुदी

## त्रिविध गुणों का प्रयोजन—

❀

सत्त्व-रजस्-तमस् इन त्रिविध गुणों का प्रयोजन क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति तथा नियमन है। सत्त्व गुण लघु होने के कारण प्रकाशक है। वह समस्त पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करता है। वस्तुओं के ऊर्ध्व गमन में यही प्रकाशक सत्त्व गुण हेतु बनता है। अग्निज्वाला की ऊर्ध्वगति एवं वायु की तिर्यग्गति में यही लाघव धर्म युक्त सत्त्व गुण कारण है। इसी गुण की प्रबलता होने से ही इन्द्रियों में आशुग्राहिता है। वे विषयों को शीघ्र प्रकाशित करती हैं तथा प्रकाशक रूप इसी गुण के अभाव में वे ही इन्द्रियाँ अपने अपने व्यापार में असमर्थ हो जाती हैं। रजो गुण चञ्चल स्वभाव वाला होने से प्रवर्त्तक है। वह प्रेरणा प्रदान करने वाला एवं व्यापार में प्रवृत्त करने वाला है। सत्त्व तथा तमस् निष्क्रिय होने के कारण स्वकीय व्यापार संपादन में

असमर्थ रहते हैं। किंतु प्रेरक रजो गुण की सहायता प्राप्त करके दोनों ही गुण अपने प्रकाशन तथा नियमन प्रयोजन को संपन्न करते हैं। वृद्धि, क्षय, विनाश इत्यादि पदार्थों के समस्त परिणामों में यही रजो गुण हेतु है। इस प्रकार सभी क्रियाओं का मूल रजो गुण ही है—

'सत्त्वतमसी स्वयमक्रियतया स्वकार्यप्रवृत्तिं प्रत्यवसीदती रजसाऽपष्टभ्येते—अवसादात् प्रच्याव्य स्वकार्ये उत्साहं प्रयत्नं कार्येते।'

सां० का० १३ तत्त्वकौमुदी

'तथा च रजसः चलतया सर्वदा प्रवृत्तिशीलत्वेन प्रवाहस्य तदन्तर्गततृणादिचालकत्वमिव रजसोऽपि सत्त्वतमसोः प्रवर्तकत्वम्'

सां० का० १३ सुषमा

तमो गुण गुरु होने के कारण नियमन करने वाला, अवरोधक है। रजो गुण चञ्चल या प्रवृत्तिशील स्वभाव वाला होने के कारण त्रिगुण समन्वित इन्द्रिय इत्यादि को सदा कार्य में लगाता ही रहे; यदि नियामक तमो गुण के द्वारा वह अवरुद्ध न हो और तमो गुण से अवरुद्ध होने पर ही वह सर्वत्र इन्द्रियों को प्रवृत्त नहीं कर पाता। उत्तेजक यह रजो गुण लघु रूप सत्त्व गुण को सदैव गतिशील बनाता ही रहे, यदि उसके व्यापार में तमो गुण द्वारा अवरोध न प्रस्तुत किया जाय —

'रजस्तु चलतया परितस्त्रैगुण्यं चालयद् गुरुणाऽऽवृण्वता च तमसा तत्र तत्र प्रवृत्तिप्रतिबन्धकेन क्वचिदेव

प्रवर्त्यत इति ततस्ततो व्यावृत्त्या तमो नियामकमुक्तम्' ।

सां० का० १३ तत्त्वकौमुदी

इस प्रकार रजो गुण की निरन्तर वृद्धि, क्रिया का नियमन करना ही तमो गुण का प्रयोजन है ।

## त्रिविधगुण की प्रवृत्ति—

❀

यद्यपि सत्त्व-रजस्-तमस् तीनों ही गुण परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, तथापि पुरुष के भोग एवं अपवर्ग रूप द्विविध प्रयोजन की पूर्ति के लिए एक में मिलकर, सहयोगी होकर कार्य करते ही हैं। यथा वर्तिका-तैल दोनों ही अग्नि से विपरीत स्वभाव वाले हैं और परस्पर संयोग से इनको विनष्ट हो जाना चाहिये। किन्तु दीपक रूप से ये तीनों एक में मिलकर वस्तु के स्वरूप प्रकाशन का कार्य करते ही हैं और जैसे वात-पित्त-श्लेष्मा परस्पर प्रतिकूल होने पर भी एक में मिलकर शरीर के धारण रूप कार्य को करते ही हैं। इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध होने पर भी ये तीनों गुण सहकारी होकर अपने-अपने व्यापारों का निष्पादन करते हुए पुरुष के भोग एवं अपवर्ग रूप दोनों ही प्रयोजनों को संपन्न करते हैं—

'यथा वर्त्तितैलेऽनलविरोधिनी, अथ मिलिते सहाऽनलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुतः। यथा च वातपित्तश्लेष्माणः परस्परविरोधिनः शरीरधारणलक्षणकार्यकारिणः। एवं सत्त्वरजस्तमांसि मिथो विरुद्धान्यप्यनुवर्त्स्यन्ति स्वकार्यं करिष्यन्ति च।'

सां० का० १३ तत्त्वकौमुदी

प्रयोजन की सिद्धि के लिए ये तीनों ही गुण अन्योन्य अभिभव, अन्योन्य आश्रय, अन्योन्य जनन तथा अन्योन्य मिथुन वृत्ति वाले हैं।

अपने-अपने व्यापार के संपादन के लिये ये गुण परस्पर एक दूसरे के अभिभावक बनते हैं। इस अभिभवं वृत्ति में पुरुष के पूर्वकृत धर्म-अधर्म ही निमित्त हैं। इसी कारण कोई एक गुण प्रबल होकर शेष दो गुणों को अभिभूत करके अपने व्यापार को पूर्ण करता है। यथा पुरुष के पूर्वकृत धर्म के कारण सत्त्व गुण उत्कर्ष को प्राप्त करता है। शक्तिमान् यह सत्त्व गुण न्यून शक्ति वाले रजो गुण तथा तमो गुण को समाक्रान्त करके अपनी शान्त वृत्ति को स्थापित करता है तथा विषय प्रकाशन रूप अपने प्रयोजन को सम्पन्न करता हुआ सुख रूप से परिणत होता है। इसी प्रकार पुरुषकृत अधर्म के कारण रजो गुण की अधिकता होती है। वह सत्त्व तथा तमो गुणों को पराभिभूत करता है और इस प्रकार अपनी घोर वृत्ति को स्थापित करता हुआ दुःख रूप से परिणत होता है। इसी तरह तमो गुण भी जीव के पूर्वकृत अधर्म के कारण सबल होकर निर्बल सत्त्व एवं रजो गुणों को अभिभूत करता है और अपनी मूढ वृत्ति का प्रसार करता हुआ जीव को मोह का अनुभव कराता है—

> 'सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय शान्तामात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते। एवं रजः सत्त्वतमसी अभिभूय घोराम् एवं तमः सत्त्वरजसी अभिभूय मूढामिति'
>
> सां० का० १२ तत्त्वकौमुदी

सत्त्व-रजस्-तमस् ये तीनों ही गुण परस्पर एक दूसरे का आश्रय ग्रहण करने वाले हैं। यद्यपि इन गुणों का यह आश्रय भाव आधार-आधेय रूप से नहीं, अपितु परस्पर सहकारिता ही है। अपने-अपने कार्य को संपन्न करने के लिये प्रत्येक गुण शेष दो गुणों के व्यापार की अपेक्षा रखते ही हैं—

'यद्यप्याधाराधेयभावेन नायमर्थो घटते तथापि यदपेक्षया यस्य क्रिया स तस्याश्रयः ।'

सां० का० १२ तत्त्वकौमुदी

अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये परस्पर सापेक्ष होने के कारण ही इन गुणों को अन्योन्य आश्रय वृत्ति वाला कहा गया है। जैसे तिर्यक् रूप से स्थित तीन दण्डों पर आश्रित घट किसी एक पर आधृत नहीं है। साथ ही घट को धारण करने के लिये प्रत्येक दण्ड अन्य दो दण्डों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं। उसी प्रकार तीनों ही गुण अपने प्रकाशन, प्रवृत्ति एवं नियमन व्यापार के लिये परस्पर सापेक्ष हैं—

'त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या ।'

सां० का० १२ माठरवृत्ति

'इमे गुणाः परस्पराश्रयाः सर्वकार्यकरणसमर्थाः, यथा त्रिदण्डी परस्पराश्रया कुण्डिकादीन् अवष्टभ्नाति ।'

अय्यास्वामी-सुवर्णसप्तति, पृष्ट १७

यथा सत्त्व गुण अपने प्रकाशन रूप व्यापार के लिये रजो गुण की प्रवर्तन तथा तमो गुण की नियमन क्रिया की सहायता चाहता है। इन दोनों गुणों के उभयविध व्यापारों की सहायता प्राप्त करके ही सत्त्व गुण अपने प्रकाशन कार्य में समर्थ होता है। साथ ही अपने व्यापार द्वारा वह रजस् तथा तमस् दोनों गुणों की सहायता भी करता है। इसी प्रकार रजो गुण अपने संचालन व्यापार के लिये सत्त्व के प्रकाशन तथा तमस् के नियमन व्यापार की अपेक्षा रखता है और अपने व्यापार द्वारा उन दोनों का उपकार भी करता है। इसी तरह तमो गुण भी निज नियमन व्यापार के लिये सत्त्व के प्रकाशन तथा रजस् के प्रवर्तन व्यापार की सहायता चाहता है और स्वकीय अवरोध व्यापार के द्वारा

अन्य दोनों गुणों की सहायता भी करता है। इस रूप से ये तीनों ही गुण अपने-अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये परस्पर एक दूसरे गुणों के व्यापारों की आवश्यकता रखते ही हैं। इस परस्पर सहयोग के अभाव में कोई भी गुण अपना कार्य पूर्ण करने में समर्थ नहीं है।

सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिविध गुण अन्योन्य जनन वृत्ति वाले है। प्रलयकालीन अवस्था में भी ये तीनों ही गुण एक दूसरे की सहायता की अपेक्षा रखते हुये सरूप परिणाम को प्राप्त करते रहते हैं। इस दशा में भी ये गुण परस्पर उपकारक हैं। गुणों का यह नित्य एवं हेतु रहित परिणाम है। गुणों के कारण ही प्रकृति सतत परिणामिनी है। यदि प्रलय काल में गुणों में परिणाम को स्वीकार नहीं किया जायेगा तब सृष्टि काल में गुणों में परिणाम की असिद्धि हो जायेगी। क्योंकि सांख्यसिद्धान्त सत्कार्यवाद का समर्थक है। 'असदकरणात्' के अनुसार जिस कार्य की स्थिति सद् रूप से कारण में नहीं है, उसकी कभी भी अभिव्यक्ति संभव नहीं है। अतः सरूप परिणाम के लिये भी ये गुण परस्पर सापेक्ष हैं।

सत्त्व-रजस्-तमस् ये त्रिविध गुण परस्पर मिथुन रूप अर्थात् युग्म भाव से रहते हैं। इन गुणों की यह युगल रूप में स्थिति अनादि, नित्य, शाश्वत एवं सार्वकालिक है। इनका सहचारी, अबिनाभाव सबन्ध सत्त्व-रजस्, सत्त्व-तमस, रजस्-तमस् रूप से है।

इस प्रकार सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिविध गुण सुखदुःखमोहात्मक तथा लघु-चञ्चल-गुरु स्वभाव वाले हैं। प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमन इनका प्रयोजन है। अन्योन्य अभिभव, अन्योन्य आश्रय, अन्योन्य जनन एवं अन्योन्य मिथुन वृत्ति वाले ये गुण हैं—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥
सां० का० १२, १३

इन्हीं त्रिविध गुणों के कारण ही एक ही प्रकृति विविध प्रकार की विचित्र विरूप सृष्टि का सर्जन करने में समर्थ होती है तथा इसी से पुरुष के भोग एवं अपवर्ग रूप द्विविध प्रयोजनों की सिद्धि होती है।

# प्रकृति

## स्वरूप, सिद्धि, प्रवृत्ति एवं परिणाम

❀

सांख्य दर्शन द्वैतमत का प्रतिपादन करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष दो ही मूल तत्त्व हैं। प्रकृति अचेतन तथा पुरुष चेतन है। इन्हीं दोनों के संयोग से समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। इस जगत् के उद्भव के संबन्ध में अनेक मत हैं—

बृहस्पति के मत में इस चेतन एवं अचेतन जगत् का मूल कारण अचेतन तत्त्व है। जगत् में जो कुछ चेतनता दिखलाई पड़ती है, वह सब अचेतन का ही विकार है। अतः अचेतन तत्त्व ही नित्य है। बौद्ध-जैन, न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा के अनुसार अनेक नित्य परमाणुओं के संयोग से जगत् की उत्पत्ति होती है। परमाणु ही सृष्टि के मूल कारण हैं। वेदान्त की दृष्टि में एक मात्र ब्रह्म ही सत् है और यह सम्पूर्ण संसार उस अद्वैत सत्ता का विवर्त, अतात्त्विक परिणाम है। अतः यह अचेतन जगत् मिथ्या है, यथार्थ नहीं। ब्रह्म ही इसका उपादान एवं निमित्त कारण है—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'

किंतु सांख्ययोग का सिद्धान्त इस सृष्टि के विषय में भिन्न है। इस मत के अनुसार एक ही नित्य प्रकृति से समस्त संसार की अभिव्यक्ति होती है। यह अचेतन जगत् एक ही अचेतन प्रकृति का परि-

णाम है । अतः सभी कार्यों का मूल उपादान प्रकृति ही है । पुरुष तत्त्व तो चेतन अवश्य है, पर वह अपरिणामी, विकार रहित है । इसलिये उसका परिणाम यह जगत् नहीं हो सकता । अतएव अचेतन प्रकृति का ही यह परिणाम है । न्याय-वैशेषिक इत्यादि सम्मत भौतिक परमाणुओं का संघात रूप यह जगत् नहीं है । क्योंकि बुद्धि, अहंकार मन इत्यादि अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों की उत्पत्ति इन परमाणुओं से संभव नहीं है । अतः इनका मूल कारण परमाणु-भिन्न कोई अन्य ही तत्त्व होना चाहिये । इस सृष्टि को अयथार्थ, असत्, विवर्त कहना भी समीचीन नहीं है । क्योंकि सद् रूप में इसका अनुभव होता है । पदार्थों के सन्बन्ध से सुख दुःख मोह की प्राप्ति होती है । इस जगत् की सद् रूप से प्रतीति में कोई भी बाधक प्रमाण उपस्थित नहीं होता, यथा शुक्ति में रजत तथा रज्जु में सर्पप्रतीति का उत्तर काल में बाध हो जाता है —

'प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुमिति'
सां० का० ६ तत्त्वकौमुदी

अतः यह जगत् सत्, यथार्थ ही है, भ्रम नहीं और इसका उद्भव भी सत् कारण से ही हुआ है—

'जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद् बाधकाभावात्'
सां० सू० ६।५२

इस प्रकार सत्कार्य रूप इस जगत् को देख कर इसके सत्कारण की सत्ता का अनुमान होता है । क्योंकि कार्य सदैव कारण सहित होता है—

'कार्यदर्शनात् तदुपलब्धेः' सां० सू० १।११०
'कार्याद् कारणानुमानं तत्साहित्यात्' सां० सू० १।१३५

और सत्कार्य सिद्धान्त के अनुसार कार्य सदैव कारणात्मक, कारण से अभिन्न, तद्रूप होता है। कारण की व्यक्तावस्था ही कार्य है (सां० का० ९)। इसलिये इस त्रिगुणात्मक, सुखदुःखमोह प्रदान करने वाले जगत् का कारण भी इसी स्वरूप का होना चाहिये और वह कारण व्यापक, अपरिच्छिन्न, अपरिमित एवं अव्यक्त होना चाहिये स्थूल महाभूतों से तन्मात्राओं, तन्मात्राओं से अहंकार एवं अहंकार से महत्तत्त्व का ज्ञान होता है और कार्य रूप इस महत्तत्त्व से परम अव्यक्त कारण प्रकृति की सिद्धि होती है—

'ततः प्रकृतेः' सां० सू० १।६५

जगत् का यही मूल कारण त्रिगुणात्मिका, सुखदु:खमोहस्वरूपा प्रकृति है। जो सर्वव्यापक, अपरिच्छिन्न, अपरिमित एवं परम अव्यक्त है। यह प्रकृति स्वरूपतः अचेतन है। किन्तु चेतन पुरुष का सहयोग प्राप्त कर वह अपने में से ही अखिल जगत् का आविर्भाव करने में समर्थ होती है। उसी का सत् परिणाम यह सुखदु:खमोहात्मक अचेतन जगत् है।

यह प्रकृति सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिविध गुणों की साम्यावस्था है। महत्तत्त्व-अहंकार-इन्द्रिय-तन्मात्र-स्थूल महाभूत रूप से सम्पूर्ण जगत् की अभिव्यक्ति इस एक ही प्रकृति से होती है—

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि।'

सां० सू० १।६१

इसलिये जगत् का जो मूल कारण है उसी की 'प्रकृति' संज्ञा है-प्रकर्षेण क्रियते सर्वं जगद् अनया इति प्रकृतिः,। सभी कार्यों का मूल यह

प्रकृति ही है। इसका मूल कोई अन्य कारण नहीं है। इसीलिये यह मूल प्रकृति है—

'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' सां० सू० १।६७

'त्रिविधस्य कार्यसंघातस्य सा मूलं, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति, अनवस्थाप्रसङ्गात्'।

सां० का० ३ तत्त्वकौमुदी

किसी कारण का कार्य अथवा विकार न होने से यह अविकृति भी है—

'मूलप्रकृतिरविकृतिः' सां० का० ३ अ

कारण परंपरा की सूक्ष्मतम अवस्था, परम पराकाष्ठा की उपलब्धि इसी प्रकृति में होती है। अतः इसकी संज्ञा परम अव्यक्त है—

'यन्महतः कारणं तत्परमाव्यक्तं ततः परतराव्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात्'

सां० का० १५ तत्त्वकौमुदी

इसी कारण यह प्रकृति 'अहेतुमती एवं अलिङ्ग' है। समस्त सृष्टि का इसी में तिरोभाव, विलय होता है। अतः इस प्रकृति की संज्ञा प्रधान भी है—'प्रकर्षेण धीयते अन्तर्लीयते सर्वं जगद् यस्मिन् तत्प्रधानम्' इस अजा, नित्य, एक ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति का निरूपण श्रुतियों में भी उपलब्ध होता है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

श्वेताश्व० ४।५.

इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिविध गुण धर्म नहीं, अपितु स्वरूप हैं, तादात्म्यरूप हैं—

'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वम्' सां० सू० ६।३९

इन्हीं गुणों की संज्ञा 'प्रधान' है—

'एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति' योगभाष्य २।१८

प्रकृति के विकार होने के कारण ही समस्त कार्य त्रिगुणात्मक, सुख-दुःखमोह उत्पन्न करने वाले हैं। गुणों के कारण ही यह प्रकृति सतत परिणामिनी है। इस परिणाम से वह कभी भी विरत नहीं होती। यहाँ तक कि प्रलयकालीन दशा में भी उसमें परिणाम होता ही रहता है। क्योंकि गुणों का परिणाम तो स्वभाव ही है। विना परिणाम प्राप्त किये वे एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकते—

'परिणामस्वभावा हि गुणा नाऽपरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते'

सां० का० १६ तत्त्वकौमुदी

परिणाम के कारण ही प्रकृति नित्यप्रसवधर्म वाली है। अहेतुमती होने पर भी वह सभी प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने वाली है। इसीलिये वह विभु एवं सर्वव्यापक है—

'सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम्' सां० सू० ६।३६

सतत परिणामिनी होने पर भी प्रकृति निष्क्रिय है। क्योंकि परिस्पन्दन रूप क्रिया का उसमें सर्वथा अभाव है। महत्तत्त्व, अहंकार इत्यादि उपात्त देह का परित्याग तथा देहान्तर का ग्रहण करते रहते हैं। विभु होने के कारण प्रकृति में इस प्रवेश एवं निःसरण रूप क्रिया का अभाव है। विभु होने से ही प्रकृति एक है, अनेक नहीं। यह अनाश्रित तथा स्वतन्त्र है। कार्योत्पादन में स्वयं समर्थ है। महत्तत्त्व, अहंकार इत्यादि कार्यों की उत्पत्ति में वह परतन्त्र नहीं है। किसी तत्त्वान्तर में विलय न प्राप्त करने के कारण वह प्रकृति 'अलिङ्ग' है—

'प्रलयकाले ह्याकाशादयः पञ्च यथाक्रमं शब्दादितन्मात्रेषु लीयन्ते,

तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो महति, महान् प्रधाने इति। विपरीतमव्यक्तम्। न कुत्रचिदिदं लीयते, अहेतुत्वात्'

सां० का० १० जयमङ्गला

यह प्रकृति निरवयव है। इसमें परस्पर संश्लेष एवं मिश्रण का अभाव है। महत्तत्त्व, अहंकार इत्यादि कार्य तो प्रकृति के तद्रूप, तादात्म्य रूप हैं तथा त्रिविध गुणों में अप्राप्तिपूर्विकाप्राप्ति रूप संयोग का भी अभाव है। क्योंकि गुण तो प्रकृति का स्वरूप ही है। साथ ही यह प्रकृति अविवेकी, विषय, सामान्य एवं अचेतन है —

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥

सां० का० १०, ११

इस प्रकार सांख्य सिद्धान्त के अनुसार समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति एक ही नित्य त्रिगुणात्मिका अचेतन प्रकृति से होती है।

## प्रकृति की सिद्धि

❀

यह प्रकृति तत्त्व परम सूक्ष्म है। अतः अर्वाग् दृष्टि से इसकी उपलब्धि नहीं होती। किन्तु महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रिय, तन्मात्र इत्यादि कार्यों के द्वारा समस्त कार्यों के मूल कारण प्रकृति की सत्ता का ज्ञान होता है। कारणात्मक होने से ये महत्तत्त्व इत्यादि कार्य प्रकृति के समान तथा असमान भी हैं —

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥

सां० का० ८

'सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः' सां० सू० १।१०९
'कार्यदर्शनात् तदुपलब्धेः' सां० सू० १।११०

इस प्रकृति की सिद्धि में सांख्य पञ्चविध हेतुओं को प्रस्तुत करता है—

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥

कारणमस्त्यव्यक्तम्— सांख्यकारिका १५, १६ अ

१—कारणकार्यविभागात्—

कारण से ही सभी प्रकार के कार्यों का आविर्भाव होने से समस्त कार्यों का मूल कारण अव्यक्त, प्रकृति की सिद्धि होती है। सत्कार्यवाद के समर्थक सांख्य सिद्धान्त की सम्मति में सत्कार्य अपने उद्भव से पूर्व अपने ही सत्कारण में अनभिव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है और कारण व्यापार द्वारा उसी की अभिव्यक्ति होती है। इस सिद्धांत में कारण-कार्य में अभेद, तादात्म्य है। यथा कूर्म के शरीर में छिपे हुए अदृश्य अङ्ग उसके शरीर से बाहर निकलने पर प्रकट होते हैं, 'यह कूर्म का शरीर तथा ये उसके ग्रीवा, पाद आदि अङ्ग हैं' इस रूप से अङ्गी-अङ्ग में पृथक् बुद्धि होती है। पुनः कूर्म की उसी शरीर में वे ही अङ्ग प्रविष्ट हो जाने पर उसमें अदृश्य, तिरोहित हो जाते हैं और केवल शरीर की ही स्थिति रह जाती है। इसी प्रकार कारण रूप मृत्तिकापिण्ड एवं हेमपिण्ड में पूर्व से सद् रूप में विद्यमान घट तथा मुकुट इत्यादि कार्य आविर्भूत होने पर अपने कारणों से पृथक् प्रतीत होते हैं और उनमें कारण-कार्य इस रूप की बुद्धि होती है। इस

प्रकार कारण रूप गन्धरस इत्यादि तन्मात्राओं में पूर्व से ही सद् रूप में अन्तर्हित पृथिवी, जल इत्यादि महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है और वे अपने कारण से भिन्न प्रतीत होते हैं और इनमें कारण-कार्य संबन्ध का निश्चय होता है। इसी प्रकार कारण अहंकार में से सद् रूप में स्थित तन्मात्राओं, कारण महत्तत्त्व में से अहंकार एवं परम अव्यक्त मूल कारण प्रकृति में से सद् रूप में विद्यमान महत्तत्त्व का आविर्भाव होता है और ये सभी कार्य अपने कारण से पृथक् प्रतीत होते हैं। इस प्रकार कारण से ही सत्कार्य की अभिव्यक्ति होने से परंपरया सभी कार्यों का मूल कारण परम अव्यक्त प्रकृति सिद्ध होती है। सभी कार्यों का मूल कारण प्रकृति ही है, इसका कोई अन्य कारण नहीं है।

## २—कारणकार्य-अविभागात्—

कारण से कार्य का अविभाग होने से अर्थात् अपने कारण में ही कार्य का विलय होने से समस्त कार्यों का मूल कारण अव्यक्त रूप प्रकृति सिद्ध होती है। कार्य घट, मुकुट इत्यादि अपने कारण मृत्तिका-पिण्ड, हेमपिण्ड इत्यादि में विलीन होकर अव्यक्त हो जाते हैं एवं ये कार्य अपनी अपेक्षा अपने कारण को अव्यक्त सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार पृथिवी इत्यादि महाभूत अपने कारण गन्ध इत्यादि तन्मात्राओं में विलीन होकर उनको अपनी अपेक्षा अव्यक्त सिद्ध करते हैं। तन्मात्रायें अपने कारण अहंकार में और अहंकार भी अपने कारण महत्तत्त्व में लय को प्राप्त कर अपनी अपेक्षा अपने कारणों को अव्यक्त सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार महत्तत्त्व भी अपने कारण प्रकृति में तिरोहित होकर अपनी अपेक्षा उस प्रकृति को अव्यक्त सिद्ध करता है। इस प्रकृति का संनिवेश किसी भी अन्य तत्त्व में नहीं होता। कारण परंपरा की प्रकृति ही परम अव्यक्त सूक्ष्मतम अवस्था है। सूक्ष्मता की

यह प्रकृति ही पराकाष्ठा है। अतः प्रकृति ही सभी कार्यों का परंपरया परम अव्यक्त रूप है। इस प्रकार कारण में ही कार्य का तिरोभाव होने से सभी कार्यों का मूल कारण अव्यक्त प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है।

### ३--शक्तितः प्रवृत्तेश्च[1]

कारण की शक्ति से ही कार्य का उद्भव होने से सभी कार्यों का मूल कारण परम अव्यक्त सिद्ध होता है और वह प्रकृति ही है। सत्कार्य-वाद के अनुसार कारण की शक्ति से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। समर्थ शक्तिसमन्वित कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है। इसके विपरीत असमर्थ शक्तिरहित कारण कभी भी कार्य को उद्भूत नहीं कर सकता और इस सिद्धान्त के अनुसार कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान कार्य ही उस कारण की शक्ति है तथा कारण व्यापार द्वारा कारण की यही निहित शक्ति कार्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार कारण तिल की शक्ति उसमें अनभिव्यक्त रूप से स्थित कार्य तैल ही है। इसीलिये तिल के पीड़न से तैल की उद्भूति होती है। अतः तैल रूप शक्ति से युक्त समर्थ कारण तिल से ही कार्य तैल की अभिव्यक्ति होने से सभी कार्यों के मूल कारण अव्यक्त की सिद्धि होती है। सिकता में तैल उत्पादन की शक्ति विद्यमान नहीं है। अतएव कभी भी तैल की प्राप्ति सिकता से नहीं होती। इसलिये जैसे घट, पट, मुकुट, तैल इत्यादि सभी कार्य अपनी विशिष्ट शक्तियों से युक्त कारण मृत्तिका-पिण्ड, तन्तु, हेमपिण्ड, तिल इत्यादि से ही उत्पन्न होते हैं। वैसे ही महत्तत्त्व इत्यादि कार्य भी किसी समर्थ कारण की शक्ति की अभिव्यक्ति हैं। जैसे घट, पट आदि कार्यों को उत्पन्न करने वाली शक्ति का आश्रय मृत्तिकापिण्ड, तन्तु इत्यादि हैं जो इनके कारण हैं। उसी प्रकार

---

१—शक्तितश्चेति—सां० सू० १।१३२

महत्तत्त्व इत्यादि कार्यों को उत्पन्न करने वाली शक्ति का आश्रय कोई तत्त्व अवश्य होगा और वही इनका कारण होगा। यही वह मूल तत्त्व प्रकृति है। इस प्रकार कारण की शक्ति से कार्य का आविर्भाव होने से सभी कार्यों का मूल कारण अव्यक्त रूप प्रकृति की सिद्धि होती है।

## ४–परिमाणात्[1] :–

महत्तत्त्व इत्यादि सभी कार्यों के परिच्छिन्न, परिमित होने से सभी कार्यों के मूल कारण के रूप में प्रकृति की सिद्धि होती है। सत्कार्यवाद के पक्ष में कार्य की अव्यक्तावस्था ही कारण है। अतः जिस प्रकार घट, मुकुट इत्यादि कार्य परिच्छिन्न, परिमित, व्याप्य हैं और इनकी अपेक्षा इनके कारण मृत्तिकापिण्ड, हेमपिण्ड इत्यादि अपरिच्छिन्न, अपरिमित, व्यापक रूप में प्राप्त होते हैं और कार्यों की अपेक्षा ये कारण अव्यक्त हैं। इसी प्रकार महत्तत्त्व इत्यादि कार्य भी परिच्छिन्न, अव्यापक तथा व्यक्त हैं। अतएव अवश्य ही इनका कारण कोई अपरिच्छिन्न तथा व्यापक तत्त्व होगा। साथ ही वह तत्त्व परम अव्यक्त होगा। व्याप्य महत्तत्त्व का कारण यही व्यापक एव अव्यक्त प्रकृति है। इससे परतर अव्यक्त कोई भी तत्त्व नहीं है। इस प्रकार कार्यों के परिमित होने से समस्त कार्यों के मूल कारण के रूप में सर्वव्यापक एवं परम अव्यक्त प्रकृति की सिद्धि होती है।

## ५–समन्वयात्:–[2]

विविध पदार्थों में अनुरूपता अथवा सादृश्य प्राप्ति के आधार पर भी समस्त कार्यों का मूल कारण अव्यक्त सिद्ध होता है और वह अव्यक्त यह प्रकृति ही है। जो कार्य जिन गुणों, धर्मों, स्वरूप वाला

---

१ परिमाणात्—सां० सू० १।१३०

२ समन्वयात्—सां० सू० १।१३१

होता है, उसका कारण अवश्य उसी रूप का होता है। यथा मृत्तिका-पिण्ड, हेमपिण्ड, तन्तु इत्यादि में समवेत घट, मुकुट, पट इत्यादि कार्य अपने ही गुणों वाले मृत्तिकापिण्ड, हेमपिण्ड, तन्तु रूप अपनी अपेक्षा अव्यक्त कारण वाले होते हैं। इसी प्रकार महत्तत्त्व इत्यादि कार्य सुखदुःखमोहात्मक होने के कारण अपने ही स्वरूप वाले किसी अव्यक्त कारण का ज्ञान कराते हैं और इस रूप से महत्तत्त्व का कारण सुखदुःखमोहस्वरूप वाला त्रिगुणात्मक अव्यक्त सिद्ध होता है और यही प्रकृति है। इस प्रकार विभिन्न पदार्थों में अनुरूपता की प्राप्ति होने से समस्त कार्यों का मूल कारण अव्यक्त सिद्ध होता है। यह अव्यक्त ही प्रकृति है।

इस प्रकार सभी कार्यों की अपने ही कारण से अभिव्यक्ति तथा पुनः अपने ही कारण में विलय होने से, कारण की शक्ति से कार्य का आविर्भाव होने से, सभी कार्यों के परिमित होने से तथा कार्यों का कारण के साथ समन्वय होने से यह सिद्ध होता है कि समस्त कार्यों का एक ही मूल कारण है और वह परम अव्यक्त रूप प्रकृति ही है।

## प्रकृति की प्रवृत्ति–

*

सांख्यसिद्धान्त में प्रकृति अचेतन तथा पुरुष चेतन है। यह पुरुष निष्क्रिय, अकर्ता, उदासीन, असङ्ग एवं निर्लिप्त है। इन्हीं दोनों तत्त्वों के सयोग से समस्त सृष्टि का आविर्भाव होता है। इस संयोग में सांख्य पङ्गु-अन्धवत् न्याय को स्वीकार करता है। यथा प्रयोजन की सिद्धि के लिये पङ्गु एवं अन्धे में संयोग होता है और परस्पर सहयोग से वे अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने में सफल होते हैं। उसी प्रकार भोग एवं अपवर्ग रूप द्विविध प्रयोजन की परिपूर्णता के लिये निष्क्रिय पुरुष तथा परिणामिनी प्रकृति में संयोग होता है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

सां० का० २१

परन्तु प्रस्तुत उदाहरण तर्क सम्मत नहीं है। क्योंकि पङ्गु एवं अन्धे में दोनों के ही चेतन तथा स्वार्थी होने के कारण उनमें परस्पर संयोग संभव है। किंतु सांख्य का पुरुष चेतन होते हुये भी निष्क्रिय स्वार्थ रहित है और इसके विपरीत प्रकृति सतत परिणामिनी होते हुये भी अचेतन है। अतः इन दोनों में परस्पर संयोग संभव नहीं है। किंतु इस समस्या का बड़ा ही सुन्दर समाधान सांख्य प्रस्तुत करता है।

यद्यपि प्रकृति अचेतन है, तथापि पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये उसकी स्वतः प्रवृत्ति होती है। अपने व्यापार के लिये उसे किसी प्रयोजक अधिष्ठाता इत्यादि के रूप में चेतन ईश्वर इत्यादि की अपेक्षा नहीं है। यथा वत्स की वृद्धि के लिये अचेतन दुग्ध की स्वतः प्रवृत्ति होती है—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥

सां० का० ५७

'धेनुवद्वत्साय' सां० सू० २।३७
'अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य'

सां० सू० ३।५६

अतः अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति स्वतः होती है। प्रकृति की यह प्रवृत्ति परार्थ ही होती है। उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं है। यह प्रकृति अति उदार उपकारिणी एवं सभी गुणों से संपन्न है। निःस्वार्थभाव से वह विविध उपायों द्वारा निर्गुण, अनुपकारी पुरुष के स्वार्थ को

संपन्न करती है। इस उपकार के प्रति उसे किसी भी प्रकार के फल की प्राप्ति नहीं होती—

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकञ्चरति ॥

सां० का० ६०

'प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्'

सां० सू० ३।५८

'अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्'

सां० सू० ६।४०

पुरुष के भोग एवं अपवर्ग को संपन्न करना ही प्रकृति का परम प्रयोजन है। उसकी समस्त प्रवृत्ति इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये होती है। इसी प्रयोजन के संपादन के लिये वह सृष्टिकर्म में प्रवृत्त होती है। महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रिय इत्यादि के माध्यम से पुरुष के लिये सुखदुःखादि विविध प्रकार के विषय भोगों को प्रस्तुत करती है। भोगानन्तर विवेकख्याति द्वारा पुरुष को कैवल्य प्रदान करती है—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥

सां० का० ५६

'पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्'।

सां० का० ५८ सद

पुरुषार्थ की भावना से यही प्रकृति धर्म-अधर्म-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य-ऐश्वर्य-अनैश्वर्य रूप अपने ही सप्त भावों से अपने को ही बाँधती है

तथा पुनः ज्ञान रूप एक भाव द्वारा अपने को ही मुक्त करती है—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥

सां० का० ६३

प्रकृति की यह प्रवृत्ति पुरुष के प्रति तब तक बनी रहती है, जब तक वह विवेकख्याति को उत्पन्न नहीं करती। विवेकख्याति के उत्पन्न होते ही वह प्रकृति कृतार्थ हो जाती है। भोग एवं अपवर्ग दोनों प्रयोजनों के संपन्न हो जाने पर वह अपने व्यापार से विरत हो जाती है। वह निवृत्तप्रसववाली हो जाती है। अत्यन्त लज्जाशील सुकुमारी कुलवधू के समान वह पुरुष के दृष्टिपथ में पुनः उपस्थितः नहीं होती। शब्द-स्पर्श इत्यादि विषय भोगों को पुरुष के लिये प्रस्तुत नहीं करती। अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित कर वह अपने व्यापार से उपरत हो जाती है—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥

सां० का० ६१

यथा अमात्य इत्यादि भूपति के कार्य को सम्पन्न कर लेने पर कृतार्थ होकर अपने उस व्यापार से विरत हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के भोग एवं अपवर्ग रूप द्विविध प्रयोजन को सिद्ध करके कृतार्थ हुई अपनी प्रवृत्ति से निवृत्ता हो जाती है—

'विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत्'

सां० सू० ६ ४३

अतः प्रकृति की समस्त प्रवृत्ति पुरुषार्थ निमित्त अर्थात् पर प्रयोजन के संपादनार्थ ही है।

यद्यपि प्रकृति की प्रवृत्ति स्वतः तथा परार्थ ही होती है, तथापि पुरुष के पूर्वजन्मकृत धर्म-अधर्म रूप कर्म भी उसकी प्रवृत्ति में कारण बनते हैं। स्वकृत कर्म के फल की प्राप्ति अवश्य ही होती है। अतः पुरुष के कृत कर्म के फल भोगार्थ प्रकृति की प्रवृत्ति होती ही है। यह कर्म एवं फलभोग की परम्परा अनादि है। अन्यथा दोष की प्राप्ति हो जायेगी कि सृष्टि से पूर्व कर्मों का नितान्त अभाव था। अतः कर्म के अभाव में फलभोग होगा ही नहीं और प्रकृति की प्रवृत्ति भी नहीं होगी। इसलिये अनादि कर्मफलभोग की परम्परा से आकृष्ट होकर प्रकृति की प्रवृत्ति होती है—

'कर्माकृष्टेर्वाऽनादितः' सां० सू० ३।६२

प्रकृति एवं पुरुष का स्वस्वामिभाव संबन्ध कर्मनिमित्त होते हुये भी बीजङ्कुर के सदृश अनादि ही है—

'कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिर्बीजांकुरवत्'

सां० सू० ६।६७

पुरुषकृतकर्मों से प्रेरित होकर प्रकृति व्यापारयुक्त होती है—

'कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत्'

सां० सू० ३।५१

और कर्मों की विविधता के कारण ही प्रकृति अनेक प्रकार की विचित्र सृष्टि की अभिव्यक्ति करती है—

'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्' सां० सू० ६।४१

साथ ही प्रकृति एवं पुरुष का परस्पर स्वस्वामिभाव संबन्ध अविवेक के कारण है। आचार्य पञ्चशिख का यही मत है

'अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः' सां० सू० ६।६८

और उनमें यह सम्बन्ध तब तक बना रहता है, जब तक सूक्ष्म शरीर का अपने कारण में विलय नहीं हो जाता। ऐसा आचार्य सनन्दन का भी मत है—

'लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः' सां० सू० ६।६६

वास्तव में पुरुष उदासीन द्रष्टा, असङ्ग, पुष्करपलाशवत् समस्त विकारों से निर्लिप्त, चिन्मात्र ही है। किन्तु अविवेक के कारण ही प्रकृति के साथ उसका भोग्यभोक्ता, दृश्यद्रष्टा रूप संबन्ध है –

'नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम्'

सां० सू० ३।६८

अतः अनादि अविद्या एवं कर्म निमित्तक प्रकृति की प्रवृत्ति परार्थ अर्थात् पुरुष के भोग एवं अपवर्गार्थ ही होती है।

## प्रकृति के द्विविध परिणाम—

❀

प्रकृति त्रिगुणात्मिका, सत्त्व-रजस्-तमस् स्वरूपा है। प्रवर्तक रजो गुण के कारण ही वह सतत परिणामशीला है। परिणाम उसका स्वभाव ही है। अतः इस स्वभाव से वह कभी भी वियुक्त नहीं होती। इस प्रकार सरूप तथा विरूप द्विविध परिणामों को वह प्राप्त करती है—

सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यते'

सां० का० ११ तत्त्वकौमुदी

'परिणामस्वभावा हि गुणा नाऽपरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते'

सां० का० १६ तत्त्वकौमुदी

प्रकृति का प्रथम परिणाम अपने ही त्रिविध गुणों के स्वरूप का

सरूपपरिणाम है। यह प्रलयकालीन प्रकृति का परिणाम है। सभी गुण सम दशा में विद्यमान रहते हैं तथा इसमें सत्त्व का सत्त्व से, रजस् का रजस् से तथा तमस् का तमस् के साथ सदैव परिणाम होता रहता है—

'तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजोरूपतया तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते'

सां० का० १६ तत्त्वकौमुदी

इस दशा में सृष्टि का सर्वथा अभाव रहता है। प्रकृति का द्वितीय परिणाम गुणों का समुदय रूप अर्थात् विरूप परिणाम है। यह प्रकृति का सृष्टि कालीन परिणाम है। पुरुषकृत धर्म-अधर्म के कारण प्रकृति के गुणों में संक्षोभ की उत्पत्ति होती है। उसकी साम्यावस्था नष्ट हो जाती है और गुणों में परस्पर गुणप्रधानभाव की स्थिति, विषमता उत्पन्न हो जाती है। उनमें से धर्माधर्म के आधिक्य के अनुसार कोई एक गुण उत्कर्ष को प्राप्त करता है और शेष दो गुण उसके सहयोगी बन जाते हैं। इस प्रकार गुणों में अङ्गाङ्गिभाव, गुणप्रधानभाव की स्थिति हो जाने से एक ही प्रकृति महत्तत्त्व अहंकार-तन्मात्र इत्यादि क्रम से समस्त सृष्टि को अभिव्यक्त करती है—

'तथा च अनागतावस्थपुरुषार्थवशाद् गुणेषु क्षोभो जायते ततश्च तेषु कश्चन उपसर्जनभूतः कश्चन प्रधानभूत इति सर्वे मिलित्वा महदादिरूपेण प्रवर्तन्ते। सेयं महत्तत्त्वाद्यनुकूला प्रवृत्तिः द्वितीया।'

सां० का० १६ सुषमा

यथा जलद विमुक्त जल एक रस होने पर भी नारिकेल, ताल, ताली, बिल्व, तिन्दुक, आमलक, कपित्थ इत्यादि अनेक प्रकार के फलों के रस को प्राप्त कर मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कषाय इत्यादि विविध रसों का हो जाता है। उसी प्रकार प्रकृति के त्रिविध गुण प्रलय कालीन

अवस्था में समरूप, सदृश होने पर भी सृष्टिकाल में गुण-प्रधान भाव को प्राप्त कर विलक्षण विरूप सृष्टि की अभिव्यक्ति करते ही हैं —

प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ।। सां० का० १६

यद्यपि प्रस्तुत उदाहरण में यह संशय उपस्थित होता है कि जहाँ पर जलद के एकविध जल की विविध रसों की परिणति में पृथिवी के नारिकेल, ताल इत्यादि विकार हेतु रूप में उपलब्ध होते हैं, पूर्वतः विद्यमान हैं । किन्तु प्रलय काल में सरूप परिणाम प्राप्त करते हुये इन गुणों में अङ्गाङ्गिभाव की स्थिति उत्पन्न करने वाला कोई भी इस प्रकार का हेतु प्राप्त नहीं होता, जिससे वे गुण अनेकविध सृष्टि का प्रादुर्भाव कर सकें । इस समस्या का समाधान इसी प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है कि अनादि परम्परा होने से पुरुष के पूर्वकृत धर्म-अधर्म के कारण प्रकृति के गुणों में संक्षोभ उत्पन्न होता है और कर्मों के भोग के लिये प्रकृति सृष्टि कर्म में प्रवृत्त होती है और विविध परिणामों का उद्भव होता है—

'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' सां० का० १३ द

इसलिये प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के भोगार्थं एवं अपवर्गार्थ होती है । यह प्रकृति एक होते हुए भी अनेक पुरुषों के प्रयोजन को संपन्न करती है ।

——

# पुरुष

## भिन्न-भिन्न दर्शनों में आत्मा का स्वरूप—

❀

'अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी' शां० भा० २।३।१७, पाञ्चभौतिक इस शरीर के अधिष्ठाता के रूप में आत्मा नामक एक तत्त्व है। विविध प्रकार के विषयों का उपभोग करने वाला यही है। यह स्वयं सिद्ध, स्वप्रकाश, सर्वदा ज्ञाता रूप है। इसके अभाव को सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है—

**'अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात्'**

**सांख्यसूत्र ६।१**

'ममेदं शरीरं ममेयं बुद्धिः' इस निश्चय के अनुसार 'षष्ठीव्यपदेशादपि' सां० सू० ६।२ से भी देह, इन्द्रिय, बुद्धि से भिन्न आत्मा नामक तत्त्व की सिद्धि होती है। इसके अस्तित्व के संबन्ध में सर्वत्र सहमति है, किंतु स्वरूप के विषय में दर्शनों में विविध मत हैं।

इस प्रकार भौतिकवादी चार्वाक के अनुसार पृथिवीजलतेजवायु रूप चार भूतों का संघात ही आत्मा है अर्थात् 'चैतन्यविशिष्टो देह एवात्मा' चेतन शरीर ही आत्मा है। बौद्धमत में 'क्षणिकं विज्ञानमेवात्मा', प्रतिक्षण परिवर्तनशील विज्ञान ही आत्मा है। यह बुद्धि से भिन्न नहीं है। जैन नय में देह, इन्द्रिय, बुद्धि से अतिरिक्त नित्य

आत्मा है, जो एक शरीर का परित्याग एवं अभिनव शरीर को धारण करने वाला है। वह चेतन अनन्त ज्ञान एवं दर्शन से युक्त है। वह अमूर्त, कर्ता, भोक्ता, संसारी, सिद्ध, ऊर्ध्वगमन करने वाला एवं स्वदेह-परिमाण वाला है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोऽढगई ॥

द्रव्यसग्रह १।२*

न्यायवैशेषिक एवं प्राभाकर मीमांसा की सम्मति में आत्मा देह इत्यादि से भिन्न नित्य, विभु, कर्ता एवं भोक्ता है। किन्तु यह एक अचेतन द्रव्य है। मनबुद्धि से संयोग होने पर उसमें चेतनता उत्पन्न होती है। चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं, अपितु आगन्तुक धर्म है। न्यायमान्य द्वादश प्रमेयों के अन्तर्गत आत्मा भी एक प्रमेय ही है। यद्यपि वह द्रष्टा, भोक्ता तथा सर्वज्ञ है—

'तत्राऽऽत्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी'

बुद्धि-सुख-दु ख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्म-अधर्म-संसार नामक ९ विशेष तथा संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग रूप ५ सामान्य गुणों वाला यह आत्मा है। वैशेषिक अभिमत ९ द्रव्यों में आत्मा भी द्रव्य रूप ही है—

'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि'

वैशेषिकसूत्र १।१।५

---

*जीवः उपयोगमयः अमूर्तिः कर्त्ता स्वदेहपरिमाणः ।
भोक्ता संसारस्थः सिद्धः सः विस्रसा ऊर्ध्वगतिः ॥
(संस्कृतछाया)

कुमारिल भट्ट के अनुसार आत्मा चेतन है। किन्तु अंशतः अज्ञान रूप आवरण से आच्छादित रहता है। अतएव अपने विषय में सदैव अपूर्ण तथा एकाङ्गी ज्ञान होता है। वेदान्त मत में आत्मा अज, नित्य, शुद्ध चेतन तत्त्व है। वह एक होते हुए भी सभी शरीरों में विद्यमान रहता है। वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला एव आनन्द रूप है। ब्रह्म से वह पृथक् नहीं, अतः सच्चिदानन्दमय है—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'

यह अद्वैत वेदान्त को मान्य है। यह शुद्ध निरञ्जन, निरवद्य, निष्कल, निष्क्रिय, निराकार, शान्त, अखण्ड, अद्वितीय, स्वप्रकाश है। उसके ज्ञान एवं आनन्द का कभी बाध नहीं होता है। किंतु व्यवहार दशा में अविद्या के कारण संसारित्व, परिच्छिन्नत्व, बद्धत्व अल्पज्ञत्व, की प्रतीति होती है। अज्ञान आवरण से आत्म का स्वरूप तिरोहित रहता है। अन्यथा वह असङ्ग है। पुष्करपलाशवत् वह समस्त विकारों से असंपृक्त है। इनका लेशमात्र भी संबन्ध आत्मा के साथ नहीं है। सांख्ययोग सम्मत आत्मा का स्वरूप इन दर्शनों में निरूपण किये गये स्वरूप के सदृश भी है तथा विसदृश भी। यहाँ पर इस आत्मा की संज्ञा पुरुष है।

### सांख्यप्रतिपादित पुरुष—

❀

सांख्य सिद्धान्त में प्रकृति एवं पुरुष दो ही मूल तत्त्व हैं। प्रकृति अचेतन तथा पुरुष चेतन है। पुरुष के संयोग से परिणामिनी प्रकृति से समस्त सृष्टि का आविर्भाव होता है। यही दोनों तत्त्व नित्य हैं तथा इनसे भिन्न सभी पदार्थ, प्रकृति के विकार भूत अनित्य हैं। अपने कारण रूप मूल प्रकृति में विलय को प्राप्त करते हैं—

'प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्' सांख्यसूत्र ६।७२

साथ ही यह पुरुष नामक तत्त्व ही परिणामरहित, अविचल, कूटस्थ है। इसके अतिरिक्त सभी पदार्थ परिणाम को प्राप्त करने वाले हैं। प्रकृति तो सतत परिणामिनी है ही। यही पुरुषतत्त्व अन्य दर्शनों में आत्मा नाम से सबोधित किया गया है। यह पुरुष शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, प्रकृति इत्यादि से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व है—

'शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्' सां० सू० १।१३९

'देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्' सां० सू० ६।२

देह इत्यादि से भिन्न इस आत्मतत्त्व का सांख्यसम्मत सुन्दर निरूपण महाभारत[१] भी करता है। यह पुरुष अनादि, अज एवं नित्य है। वह विशुद्ध अर्थात् अपरिणामी तथा विकाररहित है। किसी कारण से उसको उत्पत्ति नहीं होती। अतः वह अहेतुमान् है। साथ ही वह स्वयं किसी परिणाम को भी प्राप्त नहीं करता और न तो किसी कार्य को ही उत्पन्न करता है। इसीलिये पुरुष को अविकृति तथा अप्रकृति कहा गया है—

'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' सां० का० ३ द

पुरुष त्रिगुणातीत है। रजो गुण से विरहित होने के कारण ही वह अपरिणामी है। त्रिगुण का अभाव होने से उसमें सुखदुःखमोह का

१ - तथाचलं संचरते स विद्वांस्तस्मात् स एकः परमः शरीरी।

शान्तिपर्व।२०३।२ सद

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वज्ञस्तानि पश्यति। शान्ति।२०३।५

नेन्द्रियैर्मनसः सिद्धिर्न बुद्धिं बुद्ध्यते मनः॥

न बुद्धिर्बुद्ध्यतेऽव्यक्तं सूक्ष्मं त्वेतानि पश्यति। शान्ति। २०४। २०

सर्वथा अभाव है। सुख-दुख, राग-द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध इत्यादि बुद्धि के ही भाव हैं। पुष्करपत्रवत् वह स्वभावतः इन समस्त विकारों से विनिर्मुक्त है। देश, काल, कारण सभी बन्धनों से रहित है। प्रकृति की परिधि से परिच्छिन्न नहीं है। अविद्या उसका स्वरूप नहीं है। अविद्या उसको बन्धनगत करने में समर्थ नहीं है—

'नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात्' सां० सू० १।२०

'नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य' सां० सू० ५।१३

इसलिये त्रिविध दुःखों का अभाव होने से पुरुष नित्य मुक्त है। उसका बन्धन नहीं है।

'नित्यमुक्तत्वम्' सां० सू० १६२

वह नित्य बुद्ध, सर्वदा ज्ञातारूप, स्वयं प्रकाश है। वह प्रमाता है, प्रमेय नहीं। चैतन्य ही पुरुष का स्वरूप है। यह चेतनता उसका गुण अथवा धर्म नहीं है। क्योंकि वह निर्गुण है—

'निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा:' सां० सू० १।१४६

वेदान्त के समान यह पुरुष आनन्द रूप नहीं है। क्योंकि आनन्द, सुख तो बुद्धि का धर्म है। साथ ही एक ही तत्त्व के चैतन्य एवं आनन्द दो भिन्न स्वरूप नहीं हो सकते—

'नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात्' सां० सू० ५।६६

अतः पुरुष चेतनरूप ही है। वह निर्लिप्त, असङ्ग, आसक्ति रहित है—

'असङ्गोऽयं पुरुष इति' सां० सू० १।१५

वह निष्क्रिय एवं अकर्ता है। अतः सभी प्रकार के कर्मों का उसमें अभाव है। उदासीन, मध्यस्थ, केवल साक्षी एवं चेतन द्रष्टा है—

'औदासीन्यं चेति' सां. सू. १।१६३

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यम्माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥

सां० का० १९

इस प्रकार यह पुरुष[1] सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिविध गुणों से रहित, व्यापक विवेकी, असंहत, निरवयव, अनाश्रित, स्वतन्त्र, अलिङ्ग, अहेतुमान्, नित्य, निष्क्रिय, अविषय, असामान्य चेतन एवं अप्रसवधर्मा है। यह अतीन्द्रिय, परोक्ष एव अति सूक्ष्म तथा प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न है। यही नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला पुरुष अनादि अविद्या के कारण प्रकृति के साथ संबन्ध को प्राप्त कर लेता है तथा प्रकृतिप्रदत्त समस्त विषयों का उपभोग करता हुआ सुखी-दुःखी होता है। पुरुष का यह भोक्तृत्व अविद्याजन्य प्रकृति के साथ संबन्ध होने के कारण ही है, यथार्थतः नहीं—

'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते'

सां० सू० १।१९

और यही स्वभावतः मुक्त बन्धनरहित पुरुष का बन्धन हो वास्तव में बुद्धि ही कर्त्री, सुखदुःखमोह का अनुभव करने वाली है, असङ्ग पुरुष नहीं। किंतु स्वच्छ चेतन पुरुष उस बुद्धि में प्रतिबिम्ब होता हुआ तद्गत समस्त धर्मों को अपने में उपचरित कर लेता है और वह कर्तृत्व तथा सुखदुःखमोह का अनुभविता बन जाता है

'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' सां. सू. १।९६

---

१—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

सां० का० १०, ११ एवं १९

'उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्'

सां० सू० १।१६४

'कुसुमवच्च मणिः'—

सां० सू० २।३५

'अपरिणामित्वात्पुरुषस्य विषयोपभोगः प्रतिबिम्बादानमात्रम्'

सांख्यप्रवचनभाष्य १।१०४

जैसे विमल स्फटिक जपाकुसुम के सांनिध्य से उपरञ्जित हो जाता है उसी प्रकार सामीप्य के कारण पुरुष भी बुद्धि के सभी धर्मों से संसक्त हो जाता है—

'यथा हि केवलो रक्तः स्फटिको लक्ष्यते जनैः।
रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत् परमपूरुषः ॥

सौर० ११।३१

सत्त्वपुरुष दोनों के परस्पर संयोग से अचेतन बुद्धि चेतन सी तथा उदासीन अकर्ता पुरुष कर्ता सा हो जाता है—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥

सां० का० २०

इस प्रकार पुरुष का कर्तृत्व इत्यादि बन्धन अहंकार रूप अविद्या के कारण है, अन्यंथा वह नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चेतन ही है—

अहङ्कारः कर्ता न पुरुषः'

सां० सू० ६।५४

'निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात् सां० सू० ६।२७

'अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्' सां० सू० १।१०५
'अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्तुः फलावगमः'
सां० सू० १।१०६

इस रूप से सांख्यदर्शन पुरुष अथवा आत्मा के स्वरूप का अति सूक्ष्म एवं विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। अद्वैत वेदान्त को छोड़कर अन्य किसी भी दर्शन में इस प्रकार का आत्मस्वरूप का सूक्ष्म गम्भीर एवं सुस्पष्ट चिन्तन नहीं उपलब्ध होता है। यद्यपि न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा आत्मा को नित्य तथा विभु रूप में स्वीकार करते है। तथापि आत्मा द्रव्यरूप ही है, अचेतन है। जैन मत में आत्मा चेतन तो है पर वह स्वदेहपरिमाण वाला है, यद्यपि वह अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य इत्यादि अष्टविध गुणों से समलकृत है। वेदान्तसम्मत आत्मस्वरूप के सांख्य अति समीप है। वेदान्त में आत्मा सत् चित् आनन्दमय माना गया है। किंतु सांख्य केवल सत् तथा चेतन रूप ही आत्मा का स्वीकार करता है। साथ ही वेदान्त विविध शरीरों में एक ही विभु आत्मा की सत्ता का समर्थक है। किन्तु प्रति शरीर भिन्न-भिन्न आत्मा की स्थिति का सांख्य प्रतिपादन करता है। फिर भी आत्म स्वरूप विवेचन में सांख्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

## ईश्वर तत्त्व का खण्डन

❀

सृष्टि के उद्भव एवं प्रलय के लिये ईश्वर की सत्ता को न्याय-वैशेषिक स्वीकार करता है। प्रकृति एव पुरुष के नियन्ता के रूप यमें ेग को अनन्त ज्ञान-ऐश्वर्य से युक्त ईश्वर अभिमत है। जो दोनों में संयोग-वियोग करने वाला तथा दुःखसंतप्त जीवों का उद्धार

करने वाला है। वह परम कारुणिक एवं अनुग्रह भाव वाला है। वेदान्त को अखिल जगत् के निमित्त एव उपादान कारण के रूप में ब्रह्म मान्य है। यह जगत् उसी ब्रह्म का विवर्त है तथा समस्त जीव उसी के ही रूप हैं। अविद्या के कारण ही यह संसार है। विशुद्ध सत्त्वप्रधाना माया से आच्छन्न ब्रह्म ही ईश्वर तथा मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या से आच्छन्न ब्रह्म ही जीव है—

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः॥

पञ्चदशी १।१६

इस प्रकार वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही नित्य तत्त्व है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं।

सांख्यदर्शन प्रकृति-पुरुष के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर नामक एक पृथक् तत्त्व को स्वीकार करने के पक्ष में नही है। किंतु इस सिद्धान्त म समस्या उपस्थित होती है कि प्रकृति अचेतन है। किसी चेतन की सहायता के बिना उसकी स्वतः प्रवृत्ति सभव नहीं है। पुरुष चेतन अवश्य है, पर क्षेत्रज्ञ हाने के कारण व्यापक प्रकृति के स्वरूप से अनभिज्ञ है। अतः उसका अधिष्ठाता एवं प्रेरक बनने में असमर्थ है। इसलिये प्रकृति-पुरुष के नियन्ता के रूप में ईश्वर की अपेक्षा होती है। सांख्य इस समस्या का समाधान इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

प्रयोजन की सिद्धि के लिये अचेतन भी प्रवृत्तिशील देखा जाता है। यथा वत्स की वृद्धि के लिये अचेतन दुग्ध की स्वतः प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार पुरुष को मोक्ष प्रदान करने के लिये बिना किसी की सहायता के प्रकृति स्वयं ही अपने व्यापार में प्रवृत्त होती है

'अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य'

सां० सू० ३।५९

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥
सां० का० ५७

अतः प्रकृति का प्रयोजक एवं अधिष्ठाता ईश्वर नहीं है। क्योंकि ईश्वर को चेतन बतलाया जाता है और चेतन की प्रवृत्ति सदैव स्वार्थ तथा करुणावश होती है। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' यह लोकोक्ति भी है। किंतु ईश्वर तो आप्तकाम है। उसका कुछ भी अभिलषित प्राप्तव्य नहीं है। जिसकी प्राप्ति के लिये उसकी प्रवृत्ति हो —
'न ह्यवाप्तसकलेप्सितस्य भगवतो जगत् सृजतः किमप्यभिलषित भवति'
सां० का० ५७ तत्त्वकौमुदी।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि प्रयोजन के अभाव में ईश्वर जगत् का स्रष्टा अथवा प्रकृति-पुरुष का अधिष्ठाता नहीं हो सकता। साथ ही उसमें करुणा का भी अभाव है। क्योंकि करुणा की उत्पत्ति दूसरों को दुःखी देख करके ही होती है। किंतु सृष्टि से पूर्व दुःख अनुभव के साधन जीवों के शरीर, इन्द्रिय, विषय इत्यादि विद्यमान नहीं थे। अतः दुःख का पूर्णतः अभाव था। इसलिये किस प्रकार ईश्वर में करुणा की भावना उद्भूत होगी, जिससे द्रवित होकर वह सृष्टि सर्जन में प्रवृत्त होगा और इस प्रकार किन जीवों के दुःख का उच्छेद करेगा। और यदि यह मान लिया जाय कि सृष्टि के उत्तर काल में दुःख से अभिभूत जीवों को देखकर उसमें करुणा की उत्पत्ति होती है और वह सृष्टि की रचना करता है। तब यह असंगत विचार है कि सृष्टि से करुणा और करुणा से सृष्टि। और यदि ईश्वर परम कारुणिक एवं अतिशय दयालु ही है, तो इस भावना से प्रेरित होकर वह सदैव सुखबहुल सृष्टि की रचना करता। कभी भी अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित, नाना क्लेशों से संत्रस्त जीवों वाली विचित्र सृष्टि उत्पन्न न करता।

**अपि च करुणया प्रेरित ईश्वरः**
**सुखिन एव जन्तून् सृजेन्न विचित्रान्'**

सां॰ का॰ ५७ तत्त्वकौमुदी

अतः ईश्वर करुणा भाव से सृष्टि की रचना में प्रवृत्त नहीं होता। और यदि यह स्वीकार किया जाय कि जीवों के पूर्वजन्मकृत कर्मों के कारण ही विविध प्रकार की सुखदुःखमोह स्वरूप वाली सृष्टि का उद्भव होता है, तब तो यहाँ पर कर्म ही सृष्टि अथवा प्रकृति की प्रवृत्ति में प्रयोजक बन जाते हैं। इस प्रकार ईश्वर तो निष्प्रयोजन ही सिद्ध होता है। अतः स्वार्थ एवं करुणा रूप द्विविध हेतुओं के अभाव में ईश्वर सृष्टि का स्रष्टा, संहर्ता तथा प्रकृति-पुरुष का नियन्ता नहीं है। अपितु प्रकृति अचेतन होने पर भी पुरुषार्थ सिद्धि के लिये स्वतः प्रवृत्त होती है। जीवकृत धर्म-अधर्म के कारण ही प्रकृति से विरूप सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार सांख्य सिद्ध करता है कि ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं है अपितु उसकी स्वतः प्रवृति होती है—

**'नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः'**

सां॰ सू॰ ५।२

कर्मों के कारण ही सुखदुःखमोह रूप से विविध प्रकार की सृष्टि है—

**'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्'** सां. सू. ६।४१

अहंभाव से युक्त पुरुष ही स्वभावतः अकर्ता होने पर भी कर्ता बन जाता है और उसी के संयोग से प्रकृति के गुणों में संक्षोभ, गुणप्रधान भाव की स्थिति होने से विचित्र सृष्टि का अविर्भाव होता है। यह सृष्टि ईश्वराधीन नहीं है—

'अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धि-
र्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात्'

सां सू० ६।६४

और ईश्वर की सिद्धि में किसी भी प्रमाण की प्राप्ति नहीं होती। अतः प्रमाण के अभाव में प्रकृति के अधिष्ठाता तथा जीवों के कर्मफल के नियन्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि नहीं होती।

'प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः' सां. सू. ५।१०

हेतु एवं व्याप्ति के अभाव में अनुमान प्रमाण से भी उसकी सिद्धि नहीं होती—

'सम्बन्धाभावान्नानुमानम्' सांख्यसूत्र ५।११

शब्दप्रमाण से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं होती—

'श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य' सांख्यसूत्र ५।१२

श्रुति भी इस जगत् का कारण अव्यक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ही बतलाती है, ईश्वर को नहीं—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः'

श्वेताश्वतर। ४।५ अ०

'बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्' तैत्तिरीय आर० १०।१०

इस प्रकार सांख्यसिद्धान्त में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। पुरुष के अपवर्ग को सम्पन्न करने के लिये अचेतन प्रकृति स्वतः प्रवृत्त होती है और उसका यह व्यापार परार्थ ही होता है, अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये नहीं—

**औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।**
**पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वद्व्यक्तम् ॥**

सां० का० ५८

सांख्य के इस सिद्धान्त के समर्थन में बड़ा ही समीचीन समाधान महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र ने प्रस्तुत किया है—

"प्रत्येक दर्शनशास्त्र अपनी सीमा के अन्दर उसी पदार्थ को स्वीकार करता है, जिसके बिना अपने दृष्टिकोण से उसका कार्य-सम्पादन न हो सके। न्याय-वैशेषिकों ने प्रलय के बाद परमाणु में 'आरम्भक संयोग' या क्रिया को उत्पन्न करने के लिये 'ईश्वरेच्छा' या 'ईश्वर' का अस्तित्व माना है। सांख्य में 'प्रकृति' स्वतः परिणामिनी है। उसे किसी चेतन की सहायता की आवश्यकता नहीं है। साम्यावस्था में 'प्रकृति' में क्षोभ उत्पन्न कर, सृष्टि को आरम्भ करने के लिये यद्यपि चेतन की आवश्यकता है, किन्तु वह चेतन उस स्थिति में भी निर्लिप्त और निष्क्रिय ही है। ऐसी स्थिति में निष्प्रयोजन 'ईश्वर' के अस्तित्व को मानने में कौन-सी युक्ति है? तथापि सांख्य को 'नास्तिकदर्शन' नहीं कह सकते। हाँ, यह 'निरीश्वर सांख्य' कहा जा सकता है।"

भारतीय दर्शन, द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३१५

अर्थात् ईश्वर नामक तत्त्व की अपेक्षा के विना ही स्व सम्मत समस्त सिद्धान्तों की सिद्धि हो जाती है। अतः सांख्य को प्रकृति-पुरुष दो ही मूल तत्त्व अभीष्ट हैं, ईश्वर नहीं।

## पुरुष की सिद्धि में प्रमाण

❀

सांख्यदर्शन में अचेतन प्रकृति तथा चेतन पुरुष दो प्रधान तत्त्व

हैं। जो अनादि, अज एवं नित्य हैं। दोनों ही अति सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, एवं परोक्ष हैं। अतः इस पुरुष की सिद्धि के लिये सांख्य पञ्चविध हेतुओं को प्रस्तुत करता है—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

सां० का० १७

## १—संघातपरार्थत्वात्[1]

समस्त संघातों का पर प्रयोजन संपन्न करने के कारण प्रकृति महत्तत्त्व, इन्द्रिय, देह इत्यादि से भिन्न पुरुष की सिद्धि होती है। लोक में जितने भी संघात हैं, वे सभी परार्थ देखे जाते हैं। जैसे शयन आसन, अङ्गराग, पट, घट इत्यादि सभी संघात हैं और ये सभी अपने से भिन्न किसी अन्य के उपयोग में आते हैं। इसी प्रकार सुख दुःख मोह स्वरूप वाला होने के कारण प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रिय, देह इत्यादि सभी संघात हैं। अतः इन सभी को परार्थ होना चाहिये अर्थात् इन संघातों का उपभोग करने वाला इन संघातों से भिन्न संघातहीन कोई और ही होना चाहिये और वह संघात रहित पुरुष ही है; क्योंकि त्रिगुणातीत होने से वह संघात रूप नहीं है।

## २—त्रिगुणादिविपर्ययात्[2]

त्रिगुण इत्यादि का विपर्यय होने से पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। संघातरहित होने से चेतन, त्रिविध गुणों से रहित निर्गुण, विवेकी,

---

१ 'संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य' सां० सू० १।६६
'संहतपरार्थत्वात्' सां० सू० १।१४०

२—त्रिगुणादिविपर्ययात्—सां० सू० १।१४१

अविषय, असामान्य एवं अपरिणामी एक तत्त्व है और यही पुरुष है। क्योंकि त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, अचेतनत्व, विषयत्व, सामान्यत्व, प्रसवधर्मित्व सभी धर्म संघात रूप ही हैं और सुखदुःखमोह का अनुभव कराने वाले हैं। इसलिये संघात से भिन्न तत्त्व इन त्रिगुणत्व इत्यादि धर्मों से विहीन होगा। इस प्रकार संघातरहित त्रिगुणत्व, अविवेकित्व इत्यादि धर्मों के अभाव वाले तत्त्व की सिद्धि होती है और वही पुरुष है, जो त्रिगुणत्व, अविवेकित्व इत्यादि धर्मों से संयुक्त प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार इत्यादि से पृथक् है।

## ३—अधिष्ठानात्[1]

अधिष्ठाता होने के कारण भी पुरुष की सत्ता है। इस संसार में जितनी भी वस्तुयें विद्यमान हैं, उन सभी का कोई न कोई अधिष्ठाता अवश्य देखा जाता है अर्थात् वे सभी त्रिगुणात्मक, सुखदुःखमोह स्वरूप वाली वस्तुयें किसी अन्य से प्रेरित होती है। यथा रथ अपने से भिन्न सारथी द्वारा संचालित होता है। इसी प्रकार महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रियाँ इत्यादि सभी सुखदुःखमोहात्मक हैं। अतः इन सभी का कोई नियन्ता अवश्य ही होना चाहिये और वह है त्रिविध गुणों से विहीन पुरुष।

'न ह्यन्तरेण अधिष्ठातारं भवति वस्तुजातम्। तद्यथेह लोके रथः...सारथिनाधिष्ठितः प्रवर्त्तते। पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते। ...तस्मादस्ति पुरुष इति' सां० का० १७ माठरवृत्ति

## ४—भोक्तृभावात्[2]

त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिए भोक्ता की अपेक्षा होने से पुरुष

---

१—अधिष्ठानाच्चेति — सां सू० १।१४२

२—भोक्तृभावात् सां० सू० १।१४३

की सिद्धि होती है। इस जगत् के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मिका प्रकृति के विकार होने के कारण सभी सुख दुःख मोह स्वरूप वाले हैं और इसलिये सभी भोग्य हैं। इन भोग्य पदार्थों के लिये भोक्ता की आवश्यकता होने से भोक्ता की सिद्धि होती है। क्योंकि भोक्ता के बिना इनका भोक्तृत्व ही संभव नहीं है। ये सभी भोग्य पदार्थ सुख-दुःख मोह रूप होने से सभी के द्वारा अनुकूल तथा प्रतिकूल रूप में अनुभव किये जाते हैं। महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रियाँ इत्यादि सभी स्वयं सुख दुःख मोह स्वरूप वाले अर्थात् भोग्य तथा अचेतन हैं। अतः कभी भी वे अपने में ही विद्यमान, अपने स्वरूप का स्वय ही अनुभव करने में समर्थ नहीं हैं। अतः इनके द्वारा सुखी तथा दुःखी बनाया जाने वाला कोई अन्य ही है जो इनके स्वरूप का नहीं है और वही सुख दुःख मोह से भिन्न भोक्ता पुरुष है।

महत्तत्त्व इत्यादि दृश्य पदार्थों के लिये द्रष्टा की अपेक्षा होने के कारण भी पुरुष की सिद्धि होती है। महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रिय इत्यादि सभी पदार्थ सुख दुःख मोहात्मक होने से दृश्य हैं। द्रष्टा के अभाव में इनका दृश्यत्व होना सार्थक नहीं होता तथा अचेतन होने से ये स्वयं अपना द्रष्टा नहीं बन सकते। इसलिये इनसे भिन्न चेतन द्रष्टा की सिद्धि होती है और वह पुरुष ही है।

## ५—कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः[1]

अपवर्ग के प्रति प्रवृत्ति होने के कारण भी प्रकृति महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रिय, देह इत्यादि से व्यतिरिक्त पुरुष नामक विलक्षण तत्त्व की सिद्धि होती है। शास्त्रों तथा दिव्य चक्षु वाले महर्षियों द्वारा कैवल्य का निरूपण किया गया है जो त्रिविध दुःखों का ऐकान्तिक एव आत्यन्तिक अभाव है—

---

१—कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च—सां० सू० १।१४४

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' सां० सू० १।१

महत्तत्त्व, अहंकार इत्यादि त्रिगुणात्मक होने से दुःख स्वरूप ही हैं। अतः वे कभी भी, किसी भी प्रकार से अपने स्वरूप से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं।

'शास्त्राणां महर्षीणां दिव्यलोचनानां च कैवल्यमात्यन्तिकदुःखत्रयप्रशमलक्षणं न बुद्ध्यादीनां सम्भवति। ते हि दुःखाद्यात्मकाः कथं स्वभावाद्वियोजयितुं शक्यन्ते'

सां० का० १७ तत्त्वकौमुदी

अतः इन महत्तत्त्व इत्यादि से भिन्न कोई तत्त्व है, जिसका दुःख स्वरूप नहीं है और उसे ही दुःख से मुक्ति मिलना संभव है। त्रिगुणातीत, सुखदुःखमोह विरहित वह तत्त्व पुरुष ही है। त्रिविध दुःखों की विनिवृत्ति रूप जिसके कैवल्य के लिये शास्त्रों तथा मनीषियों का प्रयास देखा जाता है।

इस प्रकार सभी संघातों का पर प्रयोजन वाला होने के कारण, त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, अचेतनत्व इत्यादि का विपर्यय होने से, अधिष्टाता, भोक्ता, द्रष्टा की भावना से तथा कैवल्य के लिये प्रवृत्ति होने के कारण प्रकति, महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रिय, देह इत्यादि से भिन्न पुरुष नामक तत्त्व की सिद्धि होती है।

पुरुषबहुत्व—

❀

सांख्य सिद्धान्त को प्रकृति एक तथा पुरुष अनेक सम्मत हैं। प्रति शरीर यह पुरुष भिन्न-भिन्न है। पुरुषबहुत्व रूप अपने सिद्धान्त की सिद्धि सांख्य तीन हेतुओं से करता है—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमाद्युगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥
सां० का० १८

१—जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्—

जन्म, मृत्यु तथा करणों की व्यवस्था के कारण पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है अर्थात् भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न पुरुष विद्यमान हैं, एक नहीं। सभी शरीरों में एक ही पुरुष के स्वीकार कर लेने पर इनकी व्यवस्था युक्ति संगत नहीं होती। ऐसी स्थिति में किसी एक शरीर में पुरुष की उत्पत्ति होने पर सर्वत्र अन्य शरीरों में भी पुरुष की उत्पत्ति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा कभी भी नहीं देखा जाता। किसी एक शरीर में पुरुष की मृत्यु होने पर सभी शरीरों में उसकी मृत्यु होनी चाहिये। किंन्तु इस प्रकार का उदाहरण नहीं मिलता। किसी एक की इन्द्रिय में विकार, विकास, विनाश इत्यादि होने पर अन्यत्र इनकी प्राप्ति नहीं होती। एक के अन्धे या वधिर होने पर शेष अन्धे अथवा वधिर नहीं होते। एक के हस्तविहीन होने से शेष हस्तरहित नहीं होते। एक के अङ्गों में उत्कर्ष अथवा अपकर्ष होने पर अन्यत्र यह वृद्धि या क्षय उपलब्ध नहीं होता। जन्म, मृत्यु तथा करणों की यह समानता दृष्टिगोचर नहीं होती। किन्तु भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न पुरुषों की स्थिति से जन्म, मृत्यु तथा करणों की व्यवस्था घटित हो जाती है। एक पुरुष का जन्म होने पर दूसरे पुरुषों का जन्म नहीं होगा, एक की मृत्यु में दूसरे की मृत्यु नहीं होगी तथा एक पुरुष के करणों में दोष उत्पन्न हो जाने पर दूसरे पुरुषों के करणों में दोष की स्थिति नहीं होती। इस प्रकार प्रति शरीर पुरुष के भिन्न होने से व्यवस्था बनी ही रहती है और एक ही पुरुष के होने पर यह व्यवस्था असंगत हो जाती है।

यद्यपि पुरुष तो अज, नित्य एवं अपरिणामी है। उसका न तो जन्म होता है और न मृत्यु और न तो किसी प्रकार के विकार को ही प्राप्त करता है। अतः अभिनव देह, इन्द्रिय, मन, अहकार, बुद्धि तथा सुख दुःख के साथ पुरुष का संबन्ध ही उसका जन्म है तथा गृहीत देह के साथ सम्बन्ध विच्छेद ही उसकी मृत्यु है—

'निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म, न तु पुरुषस्य परिणामः, तस्यापरिणामित्वात्। तेषामेव देहादीनामुपात्तानां परित्यागो मरणम्, नत्वात्मनो विनाशः, तस्य कूटस्थनित्यत्वात्' सां० का० १८ तत्त्वकौमुदी

## २—अयुगपत्प्रवृत्ते :—

सभी शरीरों में युगपत् प्रवृत्ति का अभाव होने से भी अनेक पुरुषों का ज्ञान होता है। यदि सभी शरीरों में एक ही पुरुष विद्यमान होता तो एक शरीर में प्रवृत्ति होने पर अन्य शरीरों में भी उसी समय व्यापार होना चाहिये और यह व्यापार एक ही साथ तथा एक ही समान होना चाहिये। किंतु सर्वत्र सभी शरीरों में यह क्रिया एक साथ नहीं होती और कथञ्चित् एक साथ होने पर भी सदृश रूप से नहीं होती। विविध शरीर विविध समय में विविध कार्यों में विविध प्रकार से प्रवृत्त होते हैं। समान व्यापार में समान समय में युगपत् प्रवृत्त होने पर भी इनके कर्मों में विभिन्नता ही देखी जाती है। यथा एक ही समय में एक ही साथ चलाये गये अनेक रथों में समानता दृष्टिगोचर न होने से उनके भिन्न-भिन्न यन्ता का ज्ञान होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरों में विद्यमान पुरुष भी भिन्न-भिन्न ही हैं।

## ३—त्रैगुण्यविपर्ययात्—

सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिविध गुणों की विविधता के कारण भी पुरुष वहुत्व की सिद्धि होती है। कुछ प्राणी सत्त्वबहुल, कुछ रजो गुण

बहुल और कुछ तमो गुण प्रधान हैं। गुणों की इस विषमता के कारण ही देव एवं ऋषि सर्वोत्तम हैं, क्योंकि उनमें सत्त्व गुण का प्राबल्य है। रजो गुण के आधिक्य से मनुष्य मध्यम कोटि में आते हैं तथा तमो गुण के उद्रेक के कारण ही पशु पक्षी निकृष्ट सत्त्व हैं। यदि सभी शरीरों म एक ही पुरुष होता, तो उनमें उत्तम-मध्यम-अधम श्रेणी विभाग तथा त्रिविध गुणों का विपर्यय उपलब्ध नहीं होता। इसलिये प्रत्येक शरीरों में गुण की भिन्न-भिन्न स्थिति होने से इन शरीरों में रहने वाले भिन्न-भिन्न पुरुषों का ज्ञान होता है।

अतः जन्म, मृत्यु, करणों की व्यवस्था होने से, युगपत् प्रवृत्ति का अभाव होने से तथा त्रिविध गुणों में विपर्यय होने से पुरुष बहुत्व की सिद्धि होती है।

## सांख्यप्रस्तुतपुरुषसिद्धान्तसमीक्षा—

❀

प्रकृति, महत्तत्त्व, अहकार, देहादि से भिन्न रूप में पुरुष तत्त्व का सांख्य प्रतिपादन करता है। साथ ही वह पुरुषबहुत्व की स्थापना तथा ईश्वर का खण्डन करता है। यद्यपि पुरुष के स्वरूप का बहुत ही सूक्ष्म, गहन, एवं विशद निरूपण सांख्य द्वारा किया गया है, तथापि पुरुष की सत्ता की सिद्धि के लिये जो हेतु उपस्थित किये गये हैं, वे विचारणीय हैं—

सभी संघातों को परार्थ अर्थात् संघातविहीन पुरुष के लिये कहा गया है। प्रकृति के सभी विकार सुखदुःखमोह रूप होने से भोग्य हैं, अतएव वे अपने से भिन्न भोक्ता पुरुष के लिये हैं। अचेतन प्रकृति का कार्य होने से सभी वस्तुयें भी जड़ हैं। अतः वे सभी क्रियाविहीन हैं। इसलिये सभी चेतन पुरुष के द्वारा अधिष्ठित एवं प्रेरित होती हैं।

किंतु सांख्य ने ही पुरुष को चेतन, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला बतलाया है। पुरुष असङ्ग, निर्लिप्त, है। अतः उसका कुछ भी अपना प्रयोजन, स्वार्थ नहीं है, जिसके लिये सभी संघातों को बतलाया गया है। इसी प्रकार पुरुष भोक्ता भी नहीं है जो प्रकृति के विकारभूत विषयों का उपभोग करे। निष्क्रिय एव अकर्ता होने के कारण पुरुष प्रकृति के जड़रूप कार्यों का अधिष्ठाता तथा प्रयोजक भी नहीं बन सकता। कैवल्य प्राप्ति के लिये पुरुष की प्रवृत्ति होती है. यह हेतु भी समीचीन नहीं है। क्योंकि त्रिगुणातीत होने से पुरुष अपरिणामी है, उसमें समस्त दुःखों का सर्वथा अभाव है। दुःख तथा किसी भी प्रकार के क्लेश, विकार के साथ उसका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। अतः पुरुष तो नित्य मुक्त, नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध है। उसका बन्धन तो कभी हुआ ही नहीं। अतएव कैवल्य के लिये प्रवृत्ति ही क्यों होगी?

इस प्रकार सांख्य प्रस्तुत हेतु उसके द्वारा ही प्रतिपादित पुरुष में घटित नहीं होते। वह पुरुष चेतन, नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव वाला, त्रिगुणातीत, निष्क्रिय, निर्विकारी, निर्लिप्त, असङ्ग, अपरिणामी, उदासीन, मध्यस्थ, अहेतुमान्, अलिङ्ग, विभु, विवेकी, असंहत, निरवयव, अनाश्रित, स्वतन्त्र, अविषय, असामान्य, अप्रसवधर्मा है। किन्तु इन विशेषताओं से समन्वित कोई पुरुष अवश्य ही होगा अन्यथा सांख्य द्वारा इनका निरूपण करना निष्प्रयोजन है। अतः इस प्रकार का कोई पुरुष सांख्य सिद्धान्त में अवश्य ही विद्यमान है। इस सवन्ध में महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र[1] का कथन है कि सांख्य को 'ज्ञ मुक्त-बद्ध' रूप से त्रिविध पुरुष मान्य हैं। 'ज्ञ' पुरुष ही निर्लिप्त है और उसी में ये सभी लक्षण घटित होते हैं और यहाँ पर पुरुष की सिद्धि के लिये जो हेतु प्रस्तुत किये गये हैं, वे सभी 'बद्ध' पुरुष को सिद्ध करते हैं, 'ज्ञ' को नहीं। यह 'ज्ञ' पुरुष एक एवं 'मुक्त'

१ भारतोयदर्शन द्वितीयसंस्कण, पृष्ठ २६७-३०६

तथा 'बद्ध' पुरुष अनेक हैं। सांख्यकारिकाकार श्री ईश्वरकृष्ण 'ज्ञ' पुरुष के इसी एकत्व का प्रतिपादन करते हैं—

'ईश्वरकृष्ण का अभिप्राय तो स्पष्ट है कि यह 'एक' है और इसी 'एकत्व' को लेकर इस 'ज्ञ' का साधर्म्य 'प्रकृति' के साथ उन्होंने कहा है—'तथा च पुमान्'।

भारतीयदर्शन-उमेश, पृष्ठ २९७

वास्तव में सांख्य के 'व्यक्त-अव्यक्त ज्ञ' रूप से त्रिविध प्रमुख प्रमेय हैं और इन्हीं की विवेकख्याति से त्रिविधदुःख के अपघात रूप अपवर्ग की उपलब्धि होती है —

'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्'

सां० का० २ द

अतः इन्हीं के स्वरूप का निरूपण सांख्य करता है। क्योंकि जब तक इनके स्वरूप के सबन्ध में अज्ञान है, तभी तक संसार है, भेदज्ञान होते ही ससार का अभाव हो जाता है। दशमी एवं एकादशी सांख्य कारिकाओं में इनमें स्थित साधर्म्य तथा वैधर्म्य को प्रकाशित किया गया है। पञ्चदशी एवं षोडशी कारिकाओं में अव्यक्त की सिद्धि तथा उसकी प्रवृत्ति का निरूपण किया गया है। सप्तदशी कारिका में पुरुष की सिद्धि की गई है, पर यह 'बद्ध' पुरुष का स्वरूप है, 'ज्ञ' का नहीं। अनन्तर सांख्यकारिकाओं में प्रकृति-पुरुष संयोग, तत्कृत सृष्टि, सूक्ष्म स्थूल शरीर, तुष्टि-सिद्धि, कैवल्य इत्यादि का विवेचन किया गया है। पर कहीं पर भी उपलब्ध होने वाली सांख्यकारिकाओं में 'ज्ञ' पुरुष की सिद्धि नहीं की गई है। अतः 'ज्ञ पुरुष' को सिद्ध करने वाली अवश्य ही कोई कारिका रही होगी, जो लुप्त हो गई है। इसकी स्थिति षोडशी एवं सप्तदशी कारिकाओं के मध्य में होनी चाहिये। 'ज्ञ' पुरुष को सिद्ध करने वाली इस कारिका के अभाव के कारण ही सांख्यकारिका की तत्त्वकौमुदी, सांख्यचन्द्रिका, सुषमा, विद्वत्तोषिणी

तत्त्वविभाकर इत्यादि व्याख्याओं में भी इस 'ज्ञ' पुरुष को स्वीकार नहीं किया गया है। यद्यपि 'संघातपरार्थत्वात्' इत्यादि हेतुओं के कारण संदेह अवश्य व्यक्त किया गया है—

असङ्गस्य परमार्थतो दर्शनकर्तृत्वासम्भवाद् बुद्ध्युपाधिकमेव द्रष्टत्वमात्मन इति मन्तव्यम्.....एवं च द्रष्टृत्ववद्भोक्तृत्वस्यापि सम्भवादाद्यव्याख्यानमपि समीचीनमेवेति ध्येयम्'

सां० का० '७ विद्वत्तोषिणी

'निर्गुणस्य पुरुषस्याप्रसवधर्मित्वाद्कर्तृत्वम्' जयमंगला

अतः सप्तदशी कारिका में 'बद्ध' पुरुष की सिद्धि की गई है और इसी 'बद्ध' पुरुष की स्तुति पं० वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी' के मंगलाचरण में की है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्॥

और ये बद्ध' पुरुष अनेक हैं तथा इन्हीं की सिद्धि अष्टादशी सांख्य-कारिका में की गई। 'जननमरणक रणानां प्रतिनियमात्' इत्यादि हेतुओं से 'बद्ध' पुरुष के बहुत्व की ही सिद्धि होती है, 'ज्ञ' पुरुष के अनेकत्व की नहीं। 'ज्ञ' पुरुष तो अनादि, अज, नित्य, कूटस्थ एव एक है। उसका न तो जन्म होता है और न मृत्यु। करणों में दोषों की उत्पत्ति भी नहीं होती। जन्म-मृत्यु, अन्धत्व, काणत्व, बधिरत्व इत्यादि स्थूल देह के धर्म हैं, शुद्ध चेतन अपरिणामी पुरुष के नहीं। पुरुष विभु, अतएव देह इत्यादि से परिच्छिन्न नहीं है। पुरुष त्रिगुणातीत है। अतः प्रवर्तक रजोगुण के अभाव में वह निष्क्रिय है। इसलिये 'अयुगपत्प्रवृत्तेः' बहुत्व का प्रतिपादक हेतु उसमें घटित ही नहीं होता। गुणों का अभाव होने से सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों का विपर्यय भी उसमें है। अतः 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' हेतु भी असमीचीन ही है। इस प्रकार

ये सभी हेतु 'बद्ध' पुरुष के बहुत्व को ही सिद्ध करते हैं, 'ज्ञ' पुरुष तो एक ही है। अतः इस विषय में म० म० डॉ० उमेश मिश्र की सम्मति है—

'अतएव 'ज्ञ-रूप पुरुष' एक है और 'बद्धपुरुष' तथा 'मुक्तपुरुष' अनेक हैं। इन सभी पुरुषों की स्वतन्त्र वास्तविक सत्ता है। इस प्रकार सांख्य में तीन प्रकार के पुरुषों का वर्णन है।'

भारतीयदर्शन-द्वितीयसंस्करण, पृष्ठ ३०५

'ज्ञ' पुरुष के इस एकत्व की स्थापना श्रुतियाँ भी करती हैं। तत्त्वतः समान स्वरूप वाला होने पर भी 'ज्ञ' पुरुष उदासीन, मध्यस्थ, साक्षी द्रष्टामात्र है। किंतु 'बद्ध' पुरुष फलों के रस को ग्रहण करने वाला है और यही फलभोग उसका बन्धन भी है-

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**

ऋग्वेद १।१६४।२०

( अथर्व० ९।१४।२०; श्वेताश्व० ४।६; मुण्डक ३।१।१)

**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।**
**छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥**

कठ० १।३।१

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।५ भी पुरुष के 'ज्ञ' एवं 'बद्ध' स्वरूप को प्रस्तुत करता है—

**'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः'**

इन्हीं दोनों पुरुषों को उपनिषद् 'ज्ञ-अज्ञ' 'ईश-अनीश' की संज्ञा से अभिहित करता है—

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता'

श्वेताश्व० १।६ अव

संभवतः 'ज्ञ' के एकत्व तथा 'बद्ध' के बहुत्व का प्रतिपादन शतपथ-ब्राह्मण (१०।५।३।१६) भी करता है—

'तदाहुः। एको मृत्युर्बहवा इत्येकश्च बहवश्चेति ह ब्रूयाद्यदा हासावमुत्र तेनेकोऽथ यदि ह प्रजासु बहुधा व्याविष्टस्तेनो बहवः'। आचार्य गौडपाद ने तो 'पुमानप्येकः' 'ज्ञ' पुरुष के एकत्व का ही समर्थन किया है। पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार भी सांख्य का यह 'पुरुष-बहुत्व' सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है—

'पुरुष-बहुत्व का सिद्धान्त भी इसी प्रकार दोषयुक्त प्रतीत होता है।'

भारतीयदर्शन-सप्तमसंस्करण, पृष्ठ २८४

An Introduction to Indian Philosophy में डॉ० सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय का भी इस 'पुरुष बहुत्व' के संबन्ध में यही विचार है—

'जीवों के गुण, क्रिया, जन्म, मरण और आकृति-प्रकृति के भेद से पुरुषों का अनेकत्व सिद्ध किया जाता है। परन्तु ये सब तो शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। जो विभेद देखने में आते हैं वे प्रकृति के हैं, शुद्ध चैतन्य-स्वरूप पुरुष के नहीं। फिर उनके बल पर बहु-पुरुष-वाद की स्थापना कैसे की जा सकती है?

हिन्दी अनुवाद, झा एवं मिश्र-भारतीयदर्शन-द्वितीय संस्करण, पृष्ठ—१८५

इसी प्रकार सांख्य में 'बद्ध' पुरुष अनेक हैं। पं० उदयवीर शास्त्री भी जीवात्मा पुरुष की अनेकता को स्वीकार करते हैं—

'इस प्रकार सांख्य में जीवात्मा की अनेकता या अनन्तता स्वीकार की गई है' सांख्यसिद्धान्त पृष्ठ १३५

किंतु ये प्रकृति के नियन्ता के रूप में परमात्मा को स्वीकार करते हैं। क्योंकि पुरुष क्षेत्रज्ञ है, वह अल्पज्ञ तथा अल्प शक्ति वाला है। अतः व्यापक प्रकृति का नियन्ता इस प्रकार का पुरुष नहीं बन सकता। मुक्त पुरुष भी प्रकृति का नियामक बनने में असमर्थ है। यदि 'कपोतपञ्जर न्याय' से अनन्त पुरुषों को एक ही प्रकृति का प्रयोजक मान लिया जाय, तो अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। उन विविध पुरुषों की भिन्न-भिन्न इच्छाओं एवं प्रवृत्तियों के कारण कभी भी कोई कार्य सपन्न ही नहीं होगा। सहकारिता, सहप्रवृत्ति का सदा अभाव ही रहेगा। अतः प्रकृति का नियन्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् विभु परमात्मा ही होना चाहिये, जो एक है अनेक नहीं—

'फलतः समस्त विश्व का नियन्ता एक चेतन होना चाहिये और वह होगा पूर्णशक्ति एवं पूर्णकाम। उसी चेतन का नाम परमात्मा है।'

सांख्यसिद्धान्त, पृष्ठ ६७-७८

पं० उदयवीर शास्त्री का यह सिद्धान्त श्रुति सम्मत तथा अद्वैत वेदान्त के अति समीप है। एक ही परमेश्वर अनेक पुरुषों में विद्यमान है तथा वही प्रकृति का नियामक है—

**'एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति'**

श्वेताश्व० ६।१२ अब

यही नित्य चेतन सर्वशक्तिमान् एक परमात्मा अनेक चेतन पुरुषों को कर्मानुसार फल का विधान करता है—

**'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'**

श्वेताश्व० ६।१३ अब

श्रीमद्भगवद्गीता में इसी पुरुष का 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'पुरुष' रूप में वर्णन किया गया है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति त प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १।१३

यही क्षेत्रज्ञ पुरुष प्रकृतिप्रदत्त सभी सुखदुःख रूप विषयों का उपभोग करता है—

'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।'
गीता १३।२१ अव

इस क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को जानने वाला तथा सभी का अधिष्ठाता रूप परमेश्वर ही है—

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' गीता १३।२ अव

## उपसंहार—

❀

इस प्रकार प्रकृति-पुरुष के नियन्ता के रूप में परमेश्वर का निरूपण किया गया है। सांख्य के 'ज्ञ' पुरुष का स्वरूप भी ऐसा ही है। वास्तव में पुरुष का 'ज्ञ' स्वरूप ही यथार्थ है। किंतु यही 'ज्ञ' पुरुष अनादि काल से अनादि अविद्या से बद्ध है। अतः बद्ध होने के कारण ही कैवल्य हेतु प्रवृत्ति होती है। यद्यपि पुरुष नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव वाला है, तथापि अशुद्ध त्रिगुणात्मिका परिणामिनी प्रकृति के प्रभाव से वह सुखी-दुःखी, राग-द्वेष युक्त होता है। बुद्ध होने पर भी वह अज्ञानी बनता है। दुःख एवं बंधन का कारण प्रकृति ही है। अविवेक के कारण ही निर्लिप्त पुरुष के साथ बुद्धिगत समस्त सुख-दुःख इत्यादि भावों का संबन्ध होता है—

'निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात्' सां० सू० ६।२७

'विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥'

आसुरिः

इसी उपराग के कारण ही पुरुष कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी होता है और उसका बन्धन है। जिस प्रकार भृत्यगत सभी धर्म निष्क्रिय स्वामी में उपचरित हो जाते हैं तथा सैनिकों के जय-पराजय का राजा उपभोग करता है, उसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि में रहने वाले भावों का कर्ता एवं उपभोक्ता बनता है—

'यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्येते'

सां० का० ६२ तत्त्वकौमुदी

'बुद्धिर्हि पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वं विषयापभोगं पुरुषस्य साधयति। सुखदुःखानुभवो हि भोगः, स च बुद्धौ बुद्धिश्च पुरुषरूपेवेति सा च पुरुषमुपभोजयति।'

सां० का० ३७ तत्त्वकौमुदी

'यथा विजयः पराजयो योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि राज्ञि व्यपदिश्यते'

योगभाष्य २।१८

इसी पुरुष की सिद्धि सप्तदशी सांख्यकारिका में की गई है और ये 'बद्ध' पुरुष अनेक हैं, एक नहीं। यद्यपि पुरुषबहुत्व की सिद्धि के लिये 'जननमरणकरणाना प्रतिनियमात्' इत्यादि हेतु सांख्यकारिका में प्रस्तुत किये गये हैं, उनको विद्वानों ने सदोष बतलाया है। इस विषय में डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र का मत है—

'ये तर्क सदोष या अयथार्थ इसलिये हैं कि जिस 'पुरुष' की वास्तविक अनेकता सिद्ध करने के लिये तर्क दिये गये हैं, वह तो परमार्थतः असंग, उदासीन और अव्यवहार्य है, और जो तर्क दिये गये हैं, वे सामान्य या व्यावहारिक जीवन के हैं। वस्तुतः कभी भी

जन्म और मरण न प्राप्त करने वाला 'पुरुष' 'जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्' (अर्थात् सभी पुरुष एक साथ जन्म एवं मरण न प्राप्त करने के कारण एक हो नहीं सकते, एक ही होते तो एक साथ ही जन्म लेते और मरते ) इत्यादि तर्कों के आधार पर अनेक कैसे कहा जा सकता है।'

सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३७ अवतरणिका

पं० बलदेव उपाध्याय का भी यही मत है—

'चैतन्यरूप से सब पुरुष एक समान हैं। ऐसी दशा में पुरुष को चैतन्यरूप मानना तथा उसी क्षण में उसे विभिन्न बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है ?'

भारतीयदर्शन-सप्तम सं०, पृ० २८४

किंतु सांख्यदर्शन पुरुष बहुत्व का ही प्रतिपादन करता है और अद्वैत वेदान्त के साथ यह भी उसका एक मौलिक भेद है। म० म० डा० उमेश मिश्र ने जो ज्ञ-मुक्त-बद्ध रूप तीन प्रकार के पुरुषों की सिद्धि की है तो उससे भी तो पुरुष बहुत्व की सिद्धि हो जाती है और यदि इनको भिन्य-भिन्न रूप में ग्रहण किया जायेगा तो सांख्य अभिमत २५ तत्त्वों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार 'तथा च पुमान्' का अभिप्राय 'ज्ञ' पुरुष के एकत्व को सिद्ध करना है—मिश्र जी का यह अर्थ उपयुक्त नहीं मालूम पड़ता। आचार्य माठर तथा गौडपाद की भी 'पुमानप्येकः' व्याख्या तर्क संगत नहीं है। वास्तव में इसके द्वारा पुरुष का अहेतुमत्व, नित्यत्व रूप सादृश्य अव्यक्त के साथ तथा अनेकत्व रूप साम्य व्यक्त के साथ सिद्ध होता है। पं० वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रस्तुत व्याख्या ही उचित है—

'अहेतुमत्त्वनित्यत्वादि प्रधानसाधर्म्यमस्ति पुरुषस्य एवमनेकत्वं व्यक्तसाधर्म्यम्'

सां० का० ११ तत्त्वकौमुदी

इस प्रकार पुरुष बहुत्व की सिद्धि होती है और इसकी सिद्धि में प्रस्तुत 'जननमरण करणानां प्रतिनियमात्' इत्यादि सामान्य एवं व्यावहारिक हेतु समीचीन ही हैं। कुछ विद्वान् अन्त करण इत्यादि उपाधियों के आधार पर पुरुष की अनेकता के समर्थक हैं। पर यहाँ भी इस दोष की प्राप्ति होती है कि ये उपाधियाँ नित्य हैं अथवा अनित्य। अतः सांख्यप्रस्तुत हेतु संगत ही हैं। म० म० डॉ० उमेश मिश्र के अनुसार इन हेतुओं से 'बद्ध' पुरुष की सिद्धि होती है, 'ज्ञ' पुरुष की नहीं और बद्ध पुरुष का यदि इस प्रकार का स्वरूप है, तो कभी भी बद्ध पुरुषों को कैवल्य की प्राप्ति होगी ही नहीं। क्योंकि किसी भी वस्तु को अपने स्वरूप से पृथक् करना संभव ही नहीं है, यथा अग्नि को उष्णत्व से।

अत: पूर्व प्रतिपादित स्वरूप ही सांख्य सम्मत पुरुष का स्वरूप है। अनादि अविद्या के कारण यही पुरुष बद्ध एवं अनेक हैं। पुरुष के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन ही सांख्यदर्शन का परम प्रयोजन है। क्योंकि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है। स्वरूप दर्शन से ही त्रिविध दुःख में हेतुरूप में विद्यमान प्रकृति से अविवेक-जन्य संबन्ध को समाप्त कर पुरुष अपने ही चिन्मात्र स्वरूप में प्रति-ष्ठित हो जाता है और आत्यन्तिक एव ऐकान्तिक दुःखाभाव रूप यही स्वरूप प्रतिष्ठा ही कैवल्य है और यही मानव जीवन का भी परम पुरुषार्थ है। जैसा कि योगसूत्र में भी कहा गया है—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' ३।५५

'स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः' ४।३३

पं० उदयवीर शास्त्री प्रकृति एवं पुरुष के नियन्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करते हैं। पर सांख्य की प्रकृति अचेतन होने पर भी स्वतः परिणामिनी है। उसे अपने परिणाम एवं प्रयोजन की सिद्धि के लिये किसी चेतन सर्वशक्तिमान् ईश्वर तत्त्व की अपेक्षा नहीं है। वैसे तो सांख्य का 'ज्ञ' पुरुष योग के 'पुरुष विशेष' के समान ही है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टःपुरुष विशेष ईश्वरः'
योगसूत्र १।२४

केवल दोनों में भेद इतना ही है कि सांख्य का 'ज्ञ' पुरुष चिन्मात्र, निर्गुण, पुष्करपत्र के सदृश निर्लिप्त, असङ्ग, उदासीन, अकर्ता है। किन्तु योग का 'ईश्वर' समस्त ऐश्वर्यसम्पन्न, सर्वज्ञ, दुःख-पीड़ित जीवों का उद्धार करने वाला है। पर सांख्य को ईश्वर अभिमत नहीं है। क्योंकि उसके प्रतिपाद्य सभी सिद्धान्तों की सिद्धि प्रकृति-पुरुष से ही हो जाती है और इसी एक ईश्वर तत्त्व के कारण ही दोनों में भेद है, अन्यथा सांख्य एवं योग समान तन्त्र हैं—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'
गीता ५।४ अव

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थान तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्य च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥'
गीता ५।५

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं, नास्ति योगसमं बलम्।
तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ ॥
महा०।शान्ति

'यदेव योगाः पश्यन्ति तत् सांख्यैरपि दृश्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥'
महा०।शान्ति

इस चेतन पुरुष एवं अचेतन प्रकृति में प्रथम संयोग कैसे सम्पन्न होता है, यह एक समस्या है। सांख्य के इस सिद्धान्त को पं० बलदेव उपाध्याय ने असगत बतलाया है—

'यह एक विचार का विषय है कि इस पुरुष का प्रकृति के साथ प्रथम संयोग कैसे होता है ? इस प्रश्न का भी सांख्यसम्मत उत्तर सन्तोषप्रद नहीं है।'

भारतीयदर्शन-सप्तम सं०, पृष्ठ २८४

प्रयोजन की सिद्धि के लिये सांख्य इन दोनों में पङ्ग्वन्धवत् संयोग को स्वीकार करता है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

सां० का० २१

किन्तु पङ्गु एवं अन्धे दोनों ही चेतन तथा प्रयोजन वाले हैं। अतः उनमें संयोग संभव है। पर प्रस्तुत पक्ष में पुरुष चेतन किन्तु निरभिलाषी तथा प्रकृति अचेतन है। इस समस्या का सर्वोत्तम समाधान अनादि परम्परा ही है। अनादि अविद्या के कारण दोनों में अनादि संयोग तो सिद्ध ही है—

'अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यत इति युक्तम्'

सां० का० २१ तत्त्वकौमुदी

अतः 'प्रथम संयोग' का प्रश्न उपस्थित करना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि अनादि परम्परा एवं अनादि अविद्या तो सर्वत्र सम्मत है। अन्यथा अद्वैत वेदान्त में भी जब एक मात्र सत्चिद् आनन्द रूप ब्रह्म ही सृष्टि के आदि में था, तो यह ज्ञान की विरोधिनी अविद्या कहाँ से आ गई ? इसलिये सभी पुरुष अविद्या से बद्ध हैं। त्रिविधदुःख विघात रूप कैवल्य की प्राप्ति किस प्रकार होगी और पुरुष का यथार्थ स्वरूप क्या है, इसी का प्रतिपादन करना सांख्यदर्शन का परम प्रयोजन है।

इस प्रकार सांख्यदर्शन पुरुष अथवा आत्मा के स्वरूप का अति सूक्ष्म निरूपण करता है तथा अध्यात्म विद्या को एक ऐसी उच्च उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करता है, जिस सुव्यवस्थित एव सुदृढ़ आधार पर स्थित होकर वेदान्त मानवहित के पथ पर अग्रसर होता है और सांख्य प्रतिपादित प्रकृति-पुरुष द्वैत को ही प्रधान विषय बनाकर वह अद्वैत की स्थापना करता है और इस प्रकार यह दर्शन अध्यात्म प्रगति की दिशा में परम प्रकर्ष स्वरूप को प्राप्त करता है। प्रमुख रूप से आत्मा के अति सूक्ष्म स्वरूप का विशद रूप में प्रतिपादन करने के कारण ही भारतीय दर्शनों में सांख्य का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है।

—०—०—

# सूक्ष्मशरीर

सांख्यसिद्धान्त में सूक्ष्मशरीर का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुरुष नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव वाला तथा चेतन है। अनादि अविद्या के कारण प्रकृति के साथ उसका संयोग होता है। फलस्वरूप निष्क्रिय, उदासीन, निर्लिप्त, अकर्ता होने पर भी वह विविध प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करने वाला बनता है। अनेक प्रकार के विषयों का उपभोग करता हुआ वह सुखी-दुःखी होता है।

'अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्'
'अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्तुः फलावगमः'

सां० सू० १।१०५-१०६

स्वभावतः समस्त बन्धनों से मुक्त होते हुये भी वह बन्धन का अनुभव करता है तथा जन्म-मृत्यु के चक्र में संसरण करता है। पुरुष में इन सभी आगन्तुक धर्मों की स्थिति अविवेक के कारण होती है। वह सूक्ष्मशरीर के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है और इस अभेद प्रतीति के कारण तद्गत समस्त धर्मों के साथ उसका संबन्ध हो जाता है।

प्रकृति के ही विकार महत्तत्त्व-अहंकार-एकादशेन्द्रिय-पञ्चतन्मात्र रूप अष्टादश तत्त्वों का समुदाय यह सूक्ष्मशरीर है। इसी की 'लिङ्गशरीर' भी सञ्ज्ञा है। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक पुरुष के लिये यह सूक्ष्मशरीर प्रकृति द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यह नित्य पुरुष के कैवल्य प्राप्ति तक रहने वाला एवं अप्रतिहतगति वाला, शिला में भी प्रवेश करने की

सामर्थ्य वाला है। धर्म-अधर्म-ज्ञान-अज्ञान-वैराग्य अवैराग्य-ऐश्वर्य-अनैश्वर्य रूप अष्टविध भावों से समन्वित है। भोगरहित यही सूक्ष्म-शरीर संसरण करता है अर्थात् विषय भोग के लिये षाट्कौशिक स्थूल शरीर की अपेक्षा होती है। अतएव यह सूक्ष्मशरीर गृहीत स्थूल शरीर का परित्याग तथा अन्य अभिनव स्थूलशरीरों के साथ संबन्ध को प्राप्त करता जाता है—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥

सां० का० ४०

इस प्रकार यह सूक्ष्मशरीर ही संसरण करता है और इसके साथ तादात्म्य को प्राप्त कर पुरुष भी विभिन्न योनियों में संसरण करता है। पुरुषार्थ संपन्न करना ही सूक्ष्म शरीर का प्रयोजन है। यथा नट विविध रूप की वेष-भूषा को धारण कर राम, दुष्यन्त, युधिष्ठिर, उदय इत्यादि रूप में प्रतीत होता है। उसी प्रकार प्रकृति की विभुत्व-शक्ति का संयोग प्राप्त कर धर्म-अधर्म इत्यादि निमित्त तथा नैमित्तिक स्थूल शरीरों के साथ संबन्ध होने से सूक्ष्मशरीर भी देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, वनस्पति इत्यादि के स्वरूप वाला हो जाता है—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥

सां० का० ४२

यही सूक्ष्मशरीर बुद्धि, अहंकार इत्यादि का आश्रय है। जिस प्रकार आधार पट इत्यादि के अभाव में चित्र तथा स्तम्भ इत्यादि के अभाव में छाया की स्थिति नहीं हो सकती, उसी प्रकार आश्रय रूप सूक्ष्म शरीर के बिना बुद्धि इत्यादि भी नहीं रह सकते —

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ।।

सां० का० ४१

कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुख-दुःख, राग-द्वेष इत्यादि सब बुद्धि के ही धर्म हैं। किंतु यह बुद्धितत्त्व सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत ही है और सूक्ष्मशरीर के साथ पुरुष की तादात्म्यप्राप्ति है। अतः पुरुष में भी ये सभी भाव आ जाते हैं। यही पुरुष का बन्धन है और इसका हेतु अविद्या अथवा अविवेकख्याति ही है। अतः विवेकख्याति से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जब तक पुरुष का सूक्ष्मशरीर के साथ संबन्ध बना हुआ है, तब तक उसका बन्धन है और इसलिये विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है तथा सुख-दुःख रूप अनेक प्रकार के विषयों का उपभोग करता है। किंतु जैसे ही विवेकख्याति की प्राप्ति होती है, वह पुरुष अविद्याजन्य समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक निरन्तर रूप से तत्त्वों के साक्षात्कार के लिये की गई सतत साधना से 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' या 'प्रकृतिपुरुष ववेकज्ञान' की उत्पत्ति होती है। इस ज्ञान के उदय से पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन कर लेता है। परिणामिनी, सुखदुःखमोहस्वरूपा प्रकृति एवं बुद्धि इत्यादि से भिन्न, मैं अपरिणामी, सुखदुःखमोहरहित, निष्क्रिय, अकर्ता, अभोक्ता पुरुष हूँ, चिन्मात्र ही मेरा स्वरूप है — ऐसी प्रतीति पुरुष को हो जाती है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।। सां० का० ६४

इस प्रकार भेद की प्रतीति होते ही पुरुष सभी बन्धनों से रहित हो जाता है। त्रिविध दुःखों का उसमें पूर्णतः अभाव हो जाता है। वह निष्क्रिय, अकर्ता, अभोक्ता, उदासीन द्रष्टा मात्र रह जाता है। चिन्मात्र

अपनी केवली दशा को पुरुष प्राप्त कर लेता है। यही पुरुष का कैवल्य है।

अतः सूक्ष्मशरीर के साथ संबन्ध होने से ही पुरुष का बन्धन एवं संसरण है। इस संबन्ध के समाप्त होते ही पुरुष कैवल्य प्राप्त कर लेता है। यथार्थ में इस सूक्ष्मशरीर का ही बन्धन, संसरण एवं मोक्ष होता है। पर अविवेक के कारण इनका पुरुष में उपचार हो जाता है।

'बन्धो विपर्ययात्' सां० सू० ३।२४
'निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात्' सां० सू० ६।२७

वेदान्त दर्शन में भी इस सूक्ष्म शरीर के अत्यधिक महत्त्व को स्वीकार किया गया है। पर वेदान्त में यह सूक्ष्म शरीर सप्तदश तत्त्वों का ही संघात है। सांख्य के अहंकार का यहाँ पर मन में अन्तर्भाव कर लिया गया है तथा पञ्च तन्मात्राओं के स्थान पर पञ्च प्राण को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार वेदान्त में बुद्धि-मन-पञ्च ज्ञानेन्द्रिय-पञ्च कर्मेन्द्रिय-पञ्च प्राण रूप सप्तदश अवयवों वाला यह सूक्ष्मशरीर है। यद्यपि पुरुष के संसरण रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये दोनों ही दर्शनों में इसकी उपयोगिता समान है। इसी सूक्ष्मशरीर से संबद्ध पुरुष अथवा आत्मा देव-मनुष्य-पशु-पक्षी-लता-गुल्म इत्यादि के स्वरूप को प्राप्त करता है और जब तक पुरुष को अपवर्ग की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक पूर्व में उपात्त की गई स्थूल शरीरों का परित्याग तथा नवीन स्थूल शरीरों को यह ग्रहण करता जाता है और इस प्रकार बन्धन को प्राप्त कर संसरण करता रहता है और पुरुष के कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर जैसे ही षाट्कौशिक देह का संपात होता है, वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर भी मुक्त हो जाता है अर्थात् स्व कारण भूता मूल प्रकृति में विलय को प्राप्त कर लेता है। सूक्ष्म शरीर का भी यही मोक्ष है।

❀

# सृष्टि

अनादि अविद्या के फल स्वरूप पुरुष-प्रकृति में संयोग होता है। पुरुष चेतन एवं प्रकृति अचेतन है। प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का दर्शन करने के लिये पुरुष का तथा पुरुष को अपवर्ग प्रदान करने के लिये प्रकृति का संयोग होता है। दोनों का यह संयोग पङ्गु एवं अन्धे के सदृश ही है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

सां० का० २१

त्रिगुणात्मिका प्रकृति रजस् गुण के प्रभाव से सदैव परिणाम को प्राप्त करती रहती है, किन्तु प्रलय कालीन दशा में सत्त्व का सत्त्व से, रजस् का रजस् से, तमस् का तमस् से परिणाम होता है। यही प्रकृति का सरूप परिणाम है। पुरुष के साथ संयोग होते ही उसके इन्हीं गुणों में संक्षोभ उत्पन्न होता है और इस वैषम्य की स्थिति उद्भूत हो जाने से वही प्रकृति विरूप परिणाम को प्राप्त करती है। यही उसका सृष्टि कालीन द्वितीय परिणाम है। इस प्रकार एक ही प्रकृति से समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। उससे व्यक्त होने वाले मुख्य २३ तत्त्व हैं। इस संपूर्ण सृष्टि का मूल होने के कारण ही इसको मूल कारण, प्रकृति, परम अव्यक्त कहते हैं। प्रकृति से समुद्भूत होने वाला सर्व प्रथम तत्त्व महत्तत्त्व अथवा बुद्धि है। महत्तत्त्व से अहंकार एवं तामस अहंकार से शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध संज्ञक पञ्च तन्मात्राओं अथवा सूक्ष्म महाभूतों

तथा सात्त्विक अहंकार से मन सहित एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। पुनः सूक्ष्म पञ्च तन्मात्राओं से आकाशवायुतेजजलपृथिवी रूप पञ्च स्थूल महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है। इनमें पञ्च तन्मात्राओं की संज्ञा अविशेष, सूक्ष्मभूत है तथा सुख दुःख मोह प्रदान करने के कारण आकाश इत्यादि महाभूतों को विशेष तथा स्थूल महाभूत कहते हैं।

इस प्रकार पुरुष के संयोग से एक ही प्रकृति से सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है। इनमें प्रकृति सभी कार्यों का मूल होने से केवल प्रकृति है। महत्तत्त्व, अहंकार पञ्चतन्मात्रायें ये सात तत्त्व अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करने के कारण प्रकृति तथा स्वयं दूसरों से उद्भूत होने के कारण विकृति भी हैं। एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्च स्थूल महाभूत, ये षोडश तत्त्व दूसरों से आविर्भूत होने के कारण केवल विकृति ही कहे जाते हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥
प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥

सा० का० ३ एवं २२

इसी क्रम से गोघट, वृक्ष इत्यादि अत्यन्त स्थूल पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है।

महत्तत्त्व, बुद्धि का अध्यवसायात्मक स्वरूप है। धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य इसके सात्त्विक तथा अधर्म-अज्ञान-अवैराग्य-अनैश्वर्य तामस रूप हैं। अहंकार का अभिमान तथा मन का संकल्प व्यापार है। श्रोत्र, त्वक् चक्षु, जिह्वा, घ्राण पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध विषयों का आलोचन रूप व्यापार है। इसी प्रकार वाक्, पाणि, पाद, पायु,

उपस्थ पञ्च कर्मेन्द्रियों का वचन-आदान-विहरण-उत्सर्ग-आनन्द रूप विशेष व्यापार हैं। महत्तत्त्व-अहंकार-मन-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्च कर्मेन्द्रिय इन्हीं को त्रयोदशकरणकरते हैं। इनमें प्रथम तीन मुख्य करण, अन्तः-करण तथा शेष १० बाह्य करण हैं। पुरुष के भोगापवर्ग द्विविध प्रयो-जनों में मुख्यतम साधन होने के कारण महत्तत्त्व ही प्रधान करण है —

**सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।**
**सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥**

सां० का० ३७

धर्म-अधर्म इत्यादि अष्टविध धर्मों वाली बुद्धि की विपर्यय-अशक्ति तुष्टि-सिद्धि रूप चतुर्विध सृष्टि है। इन्हीं के अन्तर्गत धर्म-अधर्म आदि का अन्तर्भाव है। विपर्यय में अज्ञान, अशक्ति में अधर्म, अवै-राग्य अनैश्वर्य का तुष्टि में धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य का तथा सिद्धि में ज्ञान का अन्तर्भाव है। गुणों के वैषम्य के कारण इनके ही ५० अवान्तर भेद हैं। विपर्यय के ५, अशक्ति के २८, तुष्टि के ९ तथा सिद्धि के ८ भेद होते हैं। अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशरूपसे विपर्यय के पाँच भेद हैं। इन्हीं को तमस्-मोह-महामोह-तामिस्र-अन्धतामिस्र नाम से भी सम्बोधित करते हैं। ये सभी भेद अविद्या रूप ही हैं—

**'पञ्चपर्वाऽविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः**

सां० का० ४७ तत्त्वकौमुदी

पुनः विपर्यय के अवान्तर भेद इस प्रकार हैं—

तमस् ८, मोह ८, महामोह १०, तामिस्र १८, अन्धतामिस्र १८। इस प्रकार विपर्यय के सब ६२ भेद होते हैं। अशक्ति के २८ भेदों में एकादश इन्द्रियों की असामर्थ्य से उत्पन्न ११ दोष तथा तुष्टि-सिद्धि के विपर्यय से उत्पन्न १७ दोष आते हैं। नवविध तुष्टियों के अन्तर्गत प्रकृति-उपादान-काल-भाग्य नामक चतुर्विध आध्यात्मिक

तुष्टियाँ तथा शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध पाँच विषयों में वैराग्य होने से प्राप्त पञ्चविध तुष्टियाँ आती हैं। ऊह-शब्द-अध्ययन-त्रिविध दुःखों का अभाव-सुहृत्प्राप्ति-दान नाम वाली आठ प्रकार की सिद्धियाँ हैं।

बुद्धि सृष्टि के सदृश ही भूत सृष्टि में देव सृष्टि ८, तिर्यक् सृष्टि ५ तथा मानव सृष्टि १ प्रकार की होती है। द्यु लोक से सत्य लोक तक इन ऊर्ध्व लोकों में देव इत्यादि सत्त्वगुण बहुल प्राणी निवास करते हैं। पशु से लेकर वृक्ष, लता, गुल्म इत्यादि पर्यन्त तमः प्रधान सृष्टि अधो लोक में निवास करती है। समुद्र परिवेष्टित सप्त द्वीपों वाली पृथिवी रूप मध्यम लोक की सृष्टि रजस् प्रधान है। इसमें रजो गुण प्रधान प्राणी निवास करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा से लेकर तुच्छ तृण पर्यन्त सृष्टि का विभाग है।

इस प्रकार प्रकृति के साथ अविवेक ग्रहण न होने से अविद्या के कारण मनुष्य नाना प्रकार की योनियों को धारण करके अनेक प्रकार के लोकों में शुभाशुभ कर्म करता हुआ एवं तदनुसार फलों का उपभाग करता हुआ संसरण करता रहता है, जब तक कि सत्त्वपुरुषान्यताख्याति द्वारा पुरुष समस्त बन्धनों से मुक्त नहीं हो जाता।

# तुष्टि

संक्षेप रूप में प्रत्यय सर्ग चतुर्विध है—विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि एवं सिद्धि। पुनः यह तुष्टि नवविध बतलाई गई है। प्रकृति-उपादान-काल-भाग्य संज्ञक चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं तथा शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्ध नामक पाँच प्रकार के विषयों में विरति होने से पञ्चविध बाह्य तुष्टियाँ हैं—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात्पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥

सां० का० ५०

## आध्यात्मिक तुष्टि

❀

प्रकृति से व्यतिरिक्त आत्मा के संबन्ध में होने के कारण इन तुष्टियों की संज्ञा आध्यात्मिक है—

'प्रकृतिव्यतिरिक्तमात्मानमधिकृत्य यस्मात्तास्तुष्टयस्तस्मादाध्यात्मिक्यः'

सां० का० ५० तत्त्वकौमुदी

१—प्रकृति तुष्टि—आध्यात्मिक तुष्टियों में सर्व प्रथम प्रकृति-तुष्टि आती है। अपवर्ग में साधनभूत विवेक साक्षात्कार प्रकृति का ही परिणामविशेष है। प्रकृति ही इसे उत्पन्न करती है। अतः विवेक ख्याति की प्राप्ति के लिये, स्वरूप दर्शन के लिये धारणा-ध्यान-समाधि इत्यादि का अभ्यास न करके केवल प्रकृति से ही संतुष्ट हो जाना प्रकृति तुष्टि है। इसी की अन्य संज्ञा 'अम्भतुष्टि' है।

२—उपादानतुष्टि—विवेकसाक्षात्कार प्रकृति का परिणामविशेष होने पर भी केवल प्रकृति से उत्पन्न नहीं होता, अपितु प्रव्रज्या या संन्यास से अति शीघ्र ही इसकी प्राप्ति होती है। अतः संन्यास का ही अवलम्बन ग्रहण करना चाहिये, धारणा-ध्यान इत्यादि का नहीं। इस प्रकार के असद् उपदेश से होने वाली संतुष्टि ही उपादान तुष्टि है। इसी को सलिल नामक तुष्टि भी कहते हैं।

३—कालतुष्टि—प्रव्रज्या भी शीघ्र ही निर्वाण को प्रदान करने वाली नहीं है। काल परिपाक से स्वयं ही इसकी सिद्धि हो जाती है। अतः उद्विग्न होने से तथा दुष्कर साधना इत्यादि से शरीर को पीड़ा प्रदान करने से किंचिन्मात्र लाभ नहीं है। इस प्रकार के उपदेश से होने वाली तुष्टि ही कालतुष्टि है और इसी की अपर संज्ञा ओघतुष्टि है।

४—भाग्यतुष्टि—कैवल्य सिद्धि में मुख्य साधन विवेक साक्षात्कार की उपलब्धि न तो प्रकृति से होता है, न तो प्रव्रज्या से और न तो कालपरिपाक से ही, अपितु भाग्य ही इसकी सिद्धि में प्रमुख हेतु है। यथा मदालसा के पुत्रों को शैशवावस्था में ही माता के उपदेश से ज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। अतः भाग्य ही विवेक ख्याति में कारण है, अन्य साधन नहीं। इस प्रकार की तुष्टि को भाग्यतुष्टि कहते हैं। यही तुष्टि 'वृष्टि' नाम से भी प्रसिद्ध है।

## बाह्यतुष्टि

❁

बाह्य विषयों से उपरति होने से उत्पन्न होने वाली तुष्टियाँ पाँच हैं। अनात्म प्रकृति-महत्तत्त्व-अहंकार इत्यादि में आत्मबुद्धि होने से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध नामक पाँच प्रकार के विषयों में वैराग्य होने से इन तुष्टियों की उत्पत्ति होती है। आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने से इतर बाह्य पदार्थों को आत्मा मान लेने से ही, बाह्य

पदार्थ में ही संतुष्टि होने से ही इनकी संज्ञा बाह्यतुष्टि है। विषयों से वैराग्य होने पर ही इनकी उत्पत्ति होती है और अर्जन, संरक्षण, क्षय, भोग, हिंसा इन पाँच प्रकार के दोषों की स्थिति से उपरति भी पाँच प्रकार की है। अतः वैराग्य के हेतु पञ्चविध होने के कारण ही ये बाह्य तुष्टियाँ पाँच प्रकार की हैं।

## १–पारतुष्टि

अर्थ अर्जन के सेवा इत्यादि साधन सेवकों को बहुत ही अधिक पीड़ित करते हैं। इस प्रकार धन प्राप्ति के वाणिज्य इत्यादि उपाय भी कष्टप्रद ही हैं। अतः इस दुःखानुभूति से विषयों के प्रति जो वैराग्य होता है, वही पारतुष्टि' है।

## २–सुपारतुष्टि

अत्यधिक परिश्रम से उपार्जित धन का राजा, चौर इत्यादि द्वारा अपहरण कर लिया जाता है, तथा अग्निदाह, अतिशय वृष्टि, जल-प्लावन इत्यादि द्वारा वह क्षण भर में ही विनाश को प्राप्त कर लेता है। अतः अर्जित अर्थ की रक्षा में होने वाले दुःख के अनुभव से विषयों के प्रति जो विरक्ति होती है, वही सुपारतुष्टि है।

## ३–पारापार तुष्टि

बहुत ही अधिक प्रयास पूर्वक अर्जित किया गया धन उपभोग से क्षीण हो जाता है। धन के इसी क्षय का विचार करने से विषयों से जो उपरति होती है, वही पारापार तुष्टि है।

## ४–अनुत्तमाम्भ तुष्टि

शब्दस्पर्श इत्यादि विषयों के उपभोग से कामनायें निरन्तर बढ़ती ही जाती हैं और विषय की प्राप्ति न होने पर ये कामनायें उस कामी

पुरुष को दुःखी बनाती हैं इस प्रकार विषयों के सम्बन्ध में भोग-दोष की भावना से जो विषयोपरति है, वही अनुत्तमाम्भ नाम वाली तुष्टि है।

## ५—उत्तमाम्भ तुष्टि

अन्य प्राणियों को हानि पहुँचाये बिना विषयों का उपभोग संभव ही नहीं है। विषयों के उपभोग में हिंसा होती ही है। हिंसा रूप इस दोषदर्शन से विषयों के प्रति जो अनासक्ति होती है, वही उत्तमाम्भ तुष्टि है।

इस प्रकार चतुर्विध आध्यात्मिक तथा पञ्चविध बाह्य भेद से तुष्टि के नवप्रकार हैं।

———

# सिद्धि

विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि-सिद्धि संज्ञा वाली प्रत्यय, महत्तत्त्व की चतुर्विध सृष्टियों में सिद्धि का उत्कृष्टतम स्थान है। इसी के अन्तर्गत ज्ञान का समावेश है। ज्ञान स्वरूपा होने के कारण ही विपर्यय-अशक्ति तुष्टि के साथ इसका पूर्णतः विरोध है। ऊह-शब्द-अध्ययन-त्रिविध दुःखों का विघात-सुहृत्प्राप्ति-दान रूप से यह सिद्धि अष्टधा है—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥

सांख्यकारिका ५१

दुःख विघात ही मानव जीवन का परम प्रयोजन है। अतः आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक त्रिविध दुःखविघात रूप सिद्धि त्रय ही प्रमुख सिद्धियां हैं, शेष पांच सिद्धियां इनकी उपकारिका होने से गौण हैं। ये सभी सिद्धियाँ कारण-कार्य रूप से व्यवस्थित हैं। यथा— अध्ययन नाम की सिद्धि केवल कारण ही है, दुखविघात रूप तीन सिद्धियाँ केवल कार्य ही हैं तथा शेष चार ऊह-शब्द-सुहृत्प्राप्ति-दान नामक सिद्धियाँ कारण एवं कार्य उभय रूप हैं। अष्टविध इन सिद्धियों का विवरण इस प्रकार है—

## १—अध्ययन सिद्धि

शास्त्रों में निरूपित विधि के अनुसार गुरुमुख से अध्यात्म-विद्या के अक्षर स्वरूप का ग्रहण, पारायण का श्रवण ही अध्ययन सिद्धि है। संसार सागर के संतरण में प्रथम हेतु होने के कारण इसी को 'तार सिद्धि' कहते हैं। कुछ अन्य विद्वानों की मान्यता है कि शिष्य-

आचार्य संबन्ध से गुरु से अपवर्ग प्रदान करने वाले सांख्य-शास्त्र का पारायण तथा अर्थ उभयतः अध्ययन करना है। इस अध्ययन से ही ज्ञान उत्पन्न होने के कारण यह अध्ययन सिद्धि है।

## २—शब्द सिद्धि

शब्द का अभिप्राय इस शब्द से उत्पन्न अर्थ ज्ञान है। इस प्रकार शब्द जन्य अर्थज्ञान ही शब्दसिद्धि है। सरलता पूर्वक भवसागर को पार कराने वाली होने के कारण ही यह 'सुतार सिद्धि' है। अन्यत्र सांख्य-शास्त्र का दूसरे के द्वारा किये गये पारायण के श्रवण मात्र से उत्पन्न होने वाले तत्त्व-ज्ञान को शब्द सिद्धि स्वीकार किया गया है। क्योंकि पारायण के पश्चात् ही इस सिद्धि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अध्ययन तथा शब्द दोनों सिद्धियों से शब्द पारायण रूप से तथा अर्थ रूप से दो प्रकार का श्रवण हो जाता है।

## ३—ऊह सिद्धि

आगमानुकूल युक्तियों द्वारा ज्ञात अर्थ की स्वयं ही परीक्षा करना ऊह सिद्धि है अर्थात् शास्त्रों द्वारा बतलाये गये तथा गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान की आगमानुकूल तर्क द्वारा परीक्षा करना, तत्त्व निर्णय करना ही ऊह सिद्धि है। सदेहयुक्त पूर्व पक्ष का परित्याग तथा सत्य रूप उत्तर पक्ष या सिद्धान्त की स्थापना है। स्वयं ही यह मनन करना भी है। यही 'तातार' सिद्धि है। अन्य दृष्टि से गुरु के उपदेश बिना ही पूर्व जन्म के अभ्यास से स्वयं ही तत्त्वज्ञान हो जाना ऊह सिद्धि है।

## ४—सुहृत्प्राप्ति सिद्धि

शास्त्रानुकूल तर्क द्वारा परीक्षित वस्तु के विषय में गुरु, शिष्य तथा मित्रों का सवाद प्राप्त करना ही 'सुहृत्प्राप्ति' नामक सिद्धि है। क्योंकि स्वयं किया गया मनन तबतक सम्यक् मनन, यथार्थ नहीं हो

जाता, जब तक कि गुरु-शिष्य मित्र सम्मत न हो जाय। इनसे संवाद कर लेने पर तत्त्व निश्चय हो जाता है। अतः तत्त्वनिर्णय के संबन्ध में इनके सवाद की प्राप्ति ही सुहृत्प्राप्ति है। इसी को 'सम्यक्' नामक सिद्धि भी कहते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तत्त्वसाक्षात्कार किया हुआ सुहृद् से प्राप्त होने वाला ज्ञान ही सुहृत्प्राप्ति है।

## ५ –दान सिद्धि

'दैप् शोधने' अर्थ वाली √दैप् धातु से निष्पन्न होने के कारण दान का अर्थ है—विवेकख्याति की शुद्धता और विशुद्ध विवेक ज्ञान ही समस्त दुःखों की निवृत्ति में प्रधान हेतु है—

विवेकख्यातिर विप्लवा हानो पायः।

योगसूत्र २।२६

अतः संशयविपर्यय रहित शुद्ध विवेकज्ञान ही दान सिद्धि है। इसी की सदामुदित नाम से भी प्रसिद्धि है। अन्यत्र सामान्य विचार में दान को सिद्धि में कारण माना गया है क्योंकि धन लाभ से संतुष्ट होने पर ही ज्ञानी पुरुष ज्ञान प्रदान करता है।

## ६–८ त्रिविध दुःखविघात रूप सिद्धि

आध्यात्मिक-आधिभौतिक आधिदैविक नामक दुःखों के परिहार से प्राप्त होने वाली सिद्धि दुःखविघात रूप सिद्धि है। यही प्रमुख सिद्धि है। दुःख निवृत्ति ही साध्य है। अन्य सभी सिद्धियाँ इसकी प्राप्ति में साधन हैं—यही सिद्धि अन्तिम प्राप्तव्य है। त्रिविध दुःख निवृत्ति रूप इन्हीं सिद्धियों की क्रमशः प्रमोद, मुदित, मोदमान रूप से प्रसिद्धि है।

अतः अपवर्ग में हेतु होने के कारण ये सिद्धियाँ ग्राह्य हैं तथा बाधक होने के कारण विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि त्याज्य। ❀

# कैवल्य

कैवल्य ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है और यही समस्त दर्शनों का भी प्रधान प्रयोजन है। क्योंकि इसी की सिद्धि के लिये ही सभी दर्शनों की प्रवृत्ति देखी जाती है। प्रायः सर्वत्र मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। किंतु समान प्रयोजन होने पर भी मोक्ष के स्वरूप के संवन्ध में इन दर्शनों में मतैक्य नहीं है। सांख्य दर्शन के अनुसार आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक त्रिविध दुःखों का पुरुष के साथ ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक अभाव हो जाना ही मोक्ष[1] है। दुःख असह्य वेदनीय होता है। अतः इनके विघात से उद्विग्न मानव इन दुःखों के आमूल उच्छेद का प्रयास करता है। इन दुःखों के साथ पुरुष के संबन्ध का समाप्त हो जाना ही कैवल्य है। साथ ही वह पुरुष अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस दर्शन में कैवल्य वेदान्त सम्मत आनन्द रूप नहीं है, अपितु त्रिविध दुःखों का अभाव मात्र ही है।

किन्तु दुःख तो रजो गुण का परिणाम है और त्रिगुणात्मिका प्रकृति के नित्य होने के कारण रजो गुण भी नित्य है। अतः रजो गुण का कार्यभूत दुःख का सर्वथा समुच्छेद संभव नहीं है, तथापि इसका उपशमन संभव है—

१—'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' सांख्यसूत्र १।१
'आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्'
'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' न्यायसूत्रम् १ १।२२
'द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः' सांख्यसूत्र ३।६५
'मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः' सांख्यसूत्र ६।२०

**'यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखं तथापि तदभिभवः शक्यः कर्तुम्'—सांख्यकारिका १ तत्त्वकौमुदी**

दुःख का समूल विनाश नहीं किया जा सकता। किंतु प्रध्वंसाभाव संभव है। उनको अतीतावस्था में ले जाया जा सकता है। इस प्रकार समस्त दुःखों से विरत होना, असंपृक्त होना ही पुरुष का कैवल्य है।

मोक्ष का अभिप्राय बन्धन से मुक्त होना है। किन्तु यथार्थ में पुरुष का तो मोक्ष होता ही नहीं क्योंकि वह स्वभावतः सर्वथा निर्मुक्त है। पुरुष अज एवं नित्य है। चिन्मात्र उसका स्वरूप है, गुण अथवा धर्म नहीं। त्रिगुणातीत होने से वह स्वरूपतः दुःखों से विरहित, असंभिन्न है। त्रिविध दुःखों का उसमें नितान्त अभाव है। पुष्कर पत्रवत् वह राग-द्वेष-मोह लोभ-क्रोध इत्यादि समस्त विकारों से रहित, निर्लिप्त है। वह[1] कारण रहित, अपरिणामी, निर्विकारी, कूटस्थ, निरवयव, असंहत, विवेकी, स्वतन्त्र, अलिङ्ग, अविषय, असामान्य, विभु एवं व्यापक है। देश-काल-कारण सभी बन्धनों से पुरुष विहीन है। प्रकृति की परिधि से वह अपरिच्छिन्न, विनिर्मुक्त है। वह निष्क्रिय एवं अकर्ता है। अतः सभी प्रकार के कर्मों का उसमें पूर्णतः अभाव है। वह असङ्ग, उदासीन, मध्यस्थ, साक्षी, द्रष्टा, चेतन मात्र है। इसके विपरीत प्रकृति त्रिगुणात्मिका, परिणामिनी, प्रसवधर्मा, सुखदुःख-मोह रूपा है। इसलिये पुरुष का न तो बन्धन होता है, न तो संसरण

---

१—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयव परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधान तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥

सांख्यकारिका १०।११

और न मोक्ष ही। अपितु विविध पुरुषों के आश्रय में रहने वाली प्रकृति का ही बन्धन संसरण तथा मोक्ष होता है—

**तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।**
**संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥**

सां० का० ६२

फिर भी स्वरूपतः अबद्ध, मुक्त होते हुये भी पुरुष अपने को बँधा हुआ मानता है। अनादि अविद्या के कारण द्रष्टा अविषय चेतन पुरुष दृश्या भोग्या विषयरूपा अचेतन प्रकृति के साथ संबन्ध प्राप्त कर तद्गत समस्त धर्मों को अपने में उपचरित करके बन्धनगत होता है, जन्ममृत्यु के चक्र में आता है तथा प्रकृतिप्रदत्त विषयों का उपभोग करता है एवं इस प्रकार सुखदुःख इत्यादि का अनुभव करता है। यद्यपि सुखदुःख इत्यादि बुद्धि के ही धर्म हैं, तथापि उसमें प्रतिबिम्बित होता हुआ निष्केवल पुरुष बुद्धिगत सभी भावों को अपने लिये मान लेता है तथा स्वरूपतः असङ्ग होने पर भी उनसे ससक्त होकर 'अहं वृत्ति' से अभिमान करता हुआ उन भावनाओं का उपभोक्ता बन जाता है—

**'पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः। सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिनाज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवति'**

सांख्यकारिका ५ तत्त्वकौमुदी

**'तस्मात् प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषे दुःखसम्बन्धो भोगाख्योऽस्ति'**

सां० सू० १।१ प्रवचनभाष्य

जैसे स्वच्छ स्फटिक जपाकुसुम के सांनिध्य से स्वयं भी उपरञ्जित हो जाता है, वैसे ही पुरुष भी बुद्धि में रहने वाले सुखदुःखमोह इत्यादि

भावों का अनुभव करता है। प्रकृति के ही विकार स्वरूप महत्तत्त्व-अहंकार- एकादश इन्द्रिय-पञ्च तन्मात्र रूप अष्टादश तत्त्वविनिर्मित सूक्ष्म, लिङ्ग शरीर का ही संसरण होता है। परन्तु अविद्या के कारण पुरुष इस सूक्ष्म शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित कर स्वयं भी संसरण करता है और विविध प्रकार के विषयों का उपभोग करता है तथा बन्धन का अनुभव करता है। इस प्रकार पुरुष के लिए भी बन्धन, संसरण एवं मोक्ष कहा जाता है। किन्तु स्वरूपतः वह अबद्ध, समस्त बन्धनों से पृथक् ही है।

इस प्रकार पुरुष के बन्धन एवं संसरण का कारण अनादि अविद्या, अविवेकख्याति ही है। प्रकृति एवं पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध में जब तक अविद्या विद्यमान है, तब तक ही संसार की स्थिति है। अतः प्रकृतिपुरुषविवेकख्याति, सत्त्वपुरुषान्यताख्याति की उपलब्धि होते ही संसार का सर्वथा अभाव हो जाता है। वह पुरुष समस्त बन्धनों से विनिर्मुक्त हो जाता है। अज्ञान ही पुरुष का बन्धन तथा ज्ञान ही मोक्ष है। अतएव तत्त्वों के स्वरूप की श्रद्धापूर्वक सतत साधना, अनवरत अभ्यास करने से संशयरहित, विपर्ययरहित तथा मिथ्यारहित समस्त पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला विशुद्ध, केवल ज्ञान प्राप्त होता है और इस ज्ञान की उद्भूति से पुरुष में कर्तृत्व-स्वामित्व-भोक्तृत्व इत्यादि भावनाओं की निवृत्ति हो जाती है। परिणामिनी, कर्त्री, सुखदुःखमोहस्वरूपा प्रकृति से भिन्न मैं अपरिणामी, सुखदुःखमोहरहित, असङ्ग चिन्मात्र पुरुष हूँ—ऐसी प्रतीति होती है। मैं कर्ता नहीं हूँ—ऐसा बोध हो जाता है

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥

यह अवबोध ही पुरुष को अविद्याजन्य प्रतिबिम्बरूप मिथ्या बन्धन से वियुक्त करता है। पुरुष अपनी स्वतन्त्र, असङ्ग, केवली चिन्मात्र दशा

को प्राप्त कर लेता है। प्रकृति-पुरुष का यही परस्पर वियोग, पृथक् होना ही कैवल्य है।

'विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरात्'

सां० सू० ३।८४

पुरुष के भोग एवं अपवर्ग द्विविध प्रयोजनों को संपन्न करने वाली प्रकृति[1] है। अतः प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के प्रति तभी तक रहती है, जब तक विवेकख्याति की प्राप्ति नहीं हो जाती। विवेक-साक्षात्कार, स्वरूपदर्शन होते ही प्रकृति के व्यापार की उपरति हो जाती है। पुरुष के लिये प्रकृति पुनः विषयोपभोगों को प्रस्तुत नहीं करती और पुरुष भी प्रकृतिगत विषयों को तुच्छ समझ कर परित्याग कर देता है तथा आसक्तिरहित उदासीन हो जाता है—

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥

सां का० ६६

विवेक संपन्न पुरुष के प्रति प्रकृति निवृत्तप्रसवा हो जाती है। धर्म-अधर्म-अज्ञान-वैराग्य-अवैराग्य-ऐश्वर्य नामक उसके सप्त भावों की समाप्ति हो जाती है। पुरुष सुखदुःख मोह, रागद्वेषमोह इत्यादि सभी भावों से रहित हो जाता है तथा अपने ही केवली चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर असङ्ग उदासीन द्रष्टा की भांति प्रसवरहित प्रकृति को अपने से पृथक् देखता है—

---

१—'पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।'

सां० का० ५७ सद

'पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥'

सां० का० ५८ सद

**तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।**
**प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥ सां० का० ६५**

इस विवेकख्याति के उत्पन्न होते ही भर्जित बीज सदृश धर्माधर्म इत्यादि भाव कारण रूप नहीं रह जाते । इनका फलोत्पादकत्व विनष्ट हो जाता है । क्लेश रूपी सलिल से सिक्त हुई बुद्धि रूपी भूमि में ही कर्म रूपी बीज अङ्कुरित होते हैं तथा निदाघ रूप विवेकज्ञान से सलिलरूप क्लेश का पूर्णतः शोषण कर लिये जाने पर शुष्क बुद्धि रूपी भूमि में कर्मबीज अङ्कुरित होने में असमर्थ रहते हैं । अतः ज्ञान से समस्त संचित कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है और वे कर्म जाति, आयु एव भोग रूपी विपाक को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं । इस प्रकार बुद्धि में संचित कर्मों के फल की प्राप्ति नहीं होती तथा 'अह वृत्ति' से रहित होकर कार्य करने से भावी बन्धन के कारण बनने वाले कर्म संस्कारों की भी प्राप्ति नही होती । केवल प्रारब्ध कर्मों का ही संबन्ध पुरुष के साथ रह जाता है, जिनके फल स्वरूप उसे वर्तमान कालीन जाति-आयु-भोग की प्राप्ति हुई है । इन कर्मों का क्षय तो फल उपभोग द्वारा ही संभव है । अतः इन कर्मों के प्रभाव से वह मनुष्य तब तक शरीर को धारण करता है, जब तक उपभोग द्वारा समस्त प्रारब्ध कर्मों का सक्षय नहीं हो जाता । जिस प्रकार कुलाल का चक्र पूर्व उत्पन्न वेग के कारण तब तक गतिशील रहता है, जब तक वेग समाप्त नहीं हो जाता । किंतु वेग के क्षीण होते ही चक्र की गति स्वतः रुक जाती है । उसी प्रकार प्रारब्ध कर्मों के फल भोग पर्यन्त पुरुष देह को धारण करता ही है, अनासक्तभाव से वह कर्मों का संपादन करता ही है—

**सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।**
**तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः ॥ सां० का० ६७**

'चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः' सा० सू० ३।८२

पुरुष की यही जीवन्मुक्त अवस्था है 'क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति' (व्यास भाष्य ४।३० यद्यपि उसमें सुख दुःख इत्यादि का अभाव है। तथापि उसके साथ शरीर का बन्धन बना हुआ है। अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का भोग से क्षय होते ही पुरुष का शरीर भी अपना व्यापार स्थगित कर देता है। देह संपात के साथ ही पुरुष समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार पुरुष में त्रिविध दुःखों का ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। दुःखों से विमुक्त पुरुष अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही पुरुष की विदेहमुक्ति, कैवल्य अपवर्ग है—

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥

सां० का० ६८

अतः अज्ञान के कारण प्रकृति के साथ जो पुरुष का तादात्म्य, अभेद प्रतीति है, मानो वही पुरुष का बन्धन है। विवेकख्याति द्वारा इसी मिथ्या प्रतीति का निराकरण होता है। स्वरूप दर्शन होते ही प्रकृति से भिन्न पुरुष अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। व्यक्त अव्यक्त-ज्ञ के विज्ञान से ही निःशेषदुःखनिवृत्ति रूप एवं स्वरूप प्रतिष्ठारूप कैवल्य की सिद्धि होती है और इसी का प्रतिपादन सांख्य-दर्शन का प्रमुख प्रयोजन है।

'द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः'

सां० सू० ३।६५

'यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः'

सां० सू० ६।७०

सांख्य के समान तन्त्र योगदर्शन में भी अपवर्ग का यही स्वरूप है। यम-नियम-आसन आदि अष्टाङ्ग योग की सतत साधन से सत्त्वपुरुषान्यताख्याति की प्राप्ति होने से पुरुष का संबन्ध प्रकृति से समाप्त हो जाता है। पुरुषार्थ संपन्न कर लेने से प्रतिकूल परिणाम द्वारा गुण अपने कारण में विलीन हो जाते हैं और पुरुष अपने चिन्मात्र स्वरूप में स्थित हो जाता है। चिति शक्ति की यह स्वरूप प्रतिष्ठा ही कैवल्य है—

'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'

योगसूत्र ३।५५

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं।
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति शक्तेरिति ॥

योगसूत्र ४।३३